Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

卐 ओ३म् 卐

जन ज्ञान

मासिक
अप्रैल, मई : १९७९
वैशाख-ज्येष्ठ : २०३०

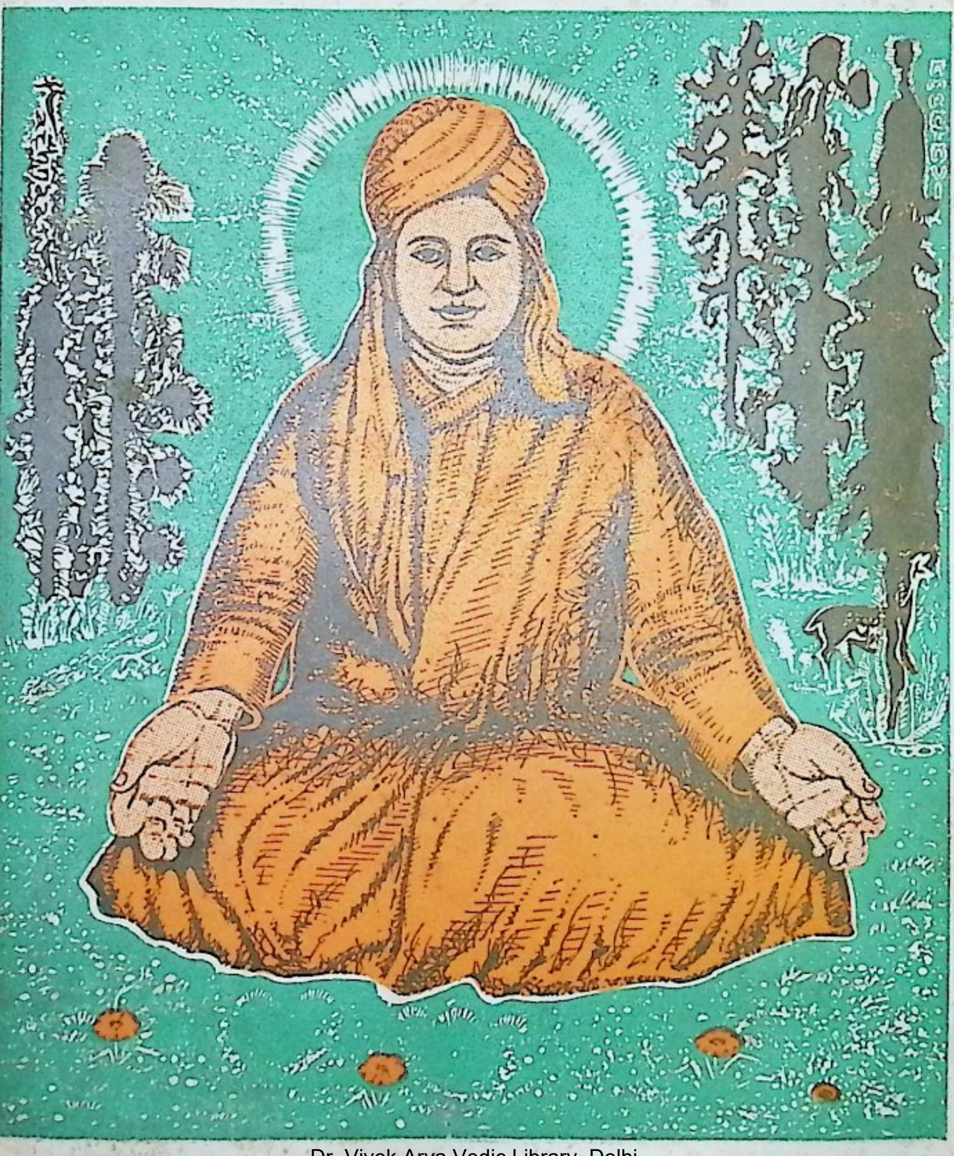

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

नेपाल के राजदूत महामहिम श्री कृष्ण बाम मल्ल से संस्थान के अध्यक्ष पं० भारतेन्द्र नाथ वेद की महत्ता के संबन्ध में वार्ता कर रहे हैं.

स्मरण रहे कि नेपाल के राजदूत महोदय वेद और धर्म के अनन्य भक्त हैं.

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai
Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

जन-ज्ञान
मासिक
सम्पादक
राकेश रानी
सह-सम्पादक
—सुमेधा स्नातिका—
दूरभाष : ५६६६३६
२०१५८४
पता—१५६७, हरध्यानसिंह मार्ग
[निकट ३१, नाईवाला]
करौल बाग, नई दिल्ली-५
वार्षिक मूल्य १५)
विदेश में : ३ पौंड
(हवाई डाक से)
२ पौंड (समुद्री डाक से)
आजीवन २५१ रु०
वर्ष ८ : अंक १
वैशाख ज्येष्ठ संवत् २०३२
अप्रैल मई १९७६

असीम प्रश्न खो गए

उलझे से जीवन में
तुम सभी व्याकुल हो।
फिर भी तुम्हें पता नहीं,
जीवन कैसे सुखमय हो ?
नीले नभ के पार हमारी,
सुखद कल्पनाएं तैरा करती हैं।
मधुर मधुरिमा विष काले वन,
झंकृतियां सजती रहती हैं।
सच तो यह है, मेरे मन की,
बात सदा से अनजानी है।
जो भी चाहा, सफल हुआ पर,
फिर भी कोई तृप्त नहीं हो पाता है।
प्रश्न यही मथता रहता है,
मेरे अन्तर की पीड़ा बन,
और अकेले निर्जन वन में,
जल लहरें गिनता रहता हूं।
मेरी मंजिल बहुत दूर है,
पथ में कांटे बिछे हुए हैं।
कौन समझ सकता है सपने,
और साथ भी कौन निभाए !
उषा निमन्त्रण दिया सभी को,
सब ने पर ठुकराया है।
हिमगिरि की रेखाओं को, कब,
किसने बोलो अपनाया है।
सत्य सत्य है, सत्य रहेगा,
उसका दलन संभव हो कैसे ?
प्यास हृदय की कभी बुझी है,
कभी मिला है प्रियतम जग में—
मन मन्दिर में कौन खोजता,
इसी लिए सारे निराश हैं।
मैं उसकी छाया का साथी,
उसको देख रहा हूं......मन में
इसी लिए सब कुछ मिलता है,
और असीम सब प्रश्न खो गए।
भाव पुराने सभी नए हैं।

—भारतेन्द्र नाथ

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

ईश्वर क्या है ?

अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः ।
तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् ।।

(अथर्व० १०, ८, ४४)

ईश्वर (अकामः) कामना-रहित, (धीरः) सर्वज्ञ, (अमृतः) अमृत-स्वरूप, (स्वयंभूः) अर्थात् आनन्द-स्वरूप है। (कुतः चन) कहीं से भी (ऊनः) त्रुटि वाला (न) नहीं है। (तम् एव) उस ही (आत्मानम्) सर्व-व्यापक (धीरम्) बुद्धिमान् (अजरम्) क्षयरहित (युवानम्) सदा युवा पर-मेश्वर को (विद्वान्) जानने वाला पुरुष (मृत्योः न बिभाय) मृत्यु से भय-भीत नहीं होता।

"रसो वै सः रसं ह्येव लब्ध्वानन्दी भवति।

(तै० उप० ब्रह्मवल्ली ७, ६)

वह रसरूप है, उसको पाकर मनुष्य परम आनन्द से सम्पन्न हो जाता है।

★ ★ ★

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।।

(यजु० ३०, १८)

(अहम्) मैं उपासक (एतम्) इस (महान्तम्) महान् (आदित्यवर्णम्) सूर्य के समान प्रकाश-स्वरूप (तमसः) अन्धकार से (परस्तात्) परे (पुरुषम्) सृष्टि-रूपी पुरी में व्याप्त हो रहे प्रभु परमात्मा को (वेद) जानता हूं। (तमेव) उस को ही (विदित्वा) जान कर साधक (मृत्युम्) मृत्यु को अर्थात् जन्म-मरण के चक्र को (अत्येति) लांघ जाता है अर्थात् इससे मुक्त हो जाता है। (अयनाय) मोक्ष के लिए (अन्यः) कोई दूसरा (पन्थाः) मार्ग (न) नहीं (विद्यते) है। अर्थात् परम प्रभु को पाए बिना मनुष्य न तो जन्म-मरण के चक्र से छूटता है और न ही मोक्ष को पा सकता है।

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

अपनी बात

दीप से दीप जले !

मन भटकता है तो उसे मंजिल नहीं मिलती, दौड़ता है तो हारता है पर अपने में शान्त होकर वह सब कुछ पा लेता है। उसे फिर और कुछ भी तो पाने की चाह नहीं रहती।

जो स्वयं ज्योतिर्मय नहीं है वह दूसरों को ज्योति कैसे देगा ? जिसे स्वयं लक्ष्य का ज्ञान नहीं वह किसी को राह क्या बतायेगा ! अंधेरे में भटकने वाला मन प्रकाश किरणें कैसे बिखेरेगा ?

वस्तुतः सृष्टि चक्र का यह अटल सत्य है कि जीवन ही जीवन देता है। अग्नि से अग्नि प्रज्वलित होती है। प्राणों की शान्ति ही प्राण भरने में समर्थ होती है।

अपने मन में जिस बात की इच्छा जागे उसके लिए श्रम साधना की जाए तो इच्छा पूर्ण होती है। सत्य की सफलता भी साधना चाहती है, तभी कामनाएँ फलती और फूलती हैं।

हम सफल होना चाहते हैं पर उसके लिए आवश्यक तप, त्याग, बलिदान और संघर्ष से बचते हैं। कभी समय की दुहाई देते हैं और कभी अपने को कोसते हैं। पर कभी एक क्षण के लिए भी यह नहीं सोचते कि हमारा कितना दोष है ?

अंधकार की घटा में ज्योति की राह देखते हुए धरती आशामयी प्रतीक्षा कर रही है। स्वप्नों को सत्य बनाने के लिए विशाल मानव समुदाय उत्सुक है पर... मार्ग नहीं मिल पा रहा।

हम निविड़ अंधकार में ज्योति का संदेश लेकर उपस्थित हैं। महानाश में निर्माण का डमरू बजाते हुए स्वयं जल कर लौ को शक्ति देने का प्रयास ही हमारा अभिनव क्षेत्र है। इसी के बल से विश्व विजय का सपना भी हमने देखा है।

चलना है, बढ़ना है, जीतना है और फैलाना है प्रकाश। इसके लिए उन सभी को जलना होगा, जिनके अंतर में अंधकार दलन की आकांक्षा है।

युग प्रकाश पर्तें खुलेंगी तो सत्य मुखरित होगा। ज्ञान ज्योति जागेगी और नई प्रतिभा का प्राण दीप्ति-पुंज बन कर शक्ति का अजस्र स्रोत बनेगा।

कौन करेगा स्वागत, आगत का ?

कौन जलेगा दीपक सम ?.........

प्रश्नों का उत्तर मानस मंथन हेतु उत्सुक है, पर क्या मेरे प्रश्न का समाधान कोई कर सकेगा ?

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

सिद्धान्तों पर समझौता नहीं

"सायण तथा ऋषि दयानन्द के वेदभाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन" के सम्बन्ध में

बहुत से मान्य सदस्यों के इस आशय के फटकार भरे पत्र हमें प्राप्त हुए हैं कि हमने भी सिद्धान्तों पर समझौता कर लिया और बिक गये।

यह प्रचार-विचार सर्वथा असत्य है। हमने कभी किसी से कोई समझौता नहीं किया। हमारी दृष्टि में समझौता शब्द ही अनार्यत्व का सूचक है।

अगर हमारा पक्ष सत्य है तो हम उसे समझायेंगे और यदि हम असत्य पर हैं तो भूल के लिए क्षमा मांगेंगे।

सार्वदेशिक सभा द्वारा प्रकाशित आपत्तिजनक ग्रन्थ के सम्बन्ध में जो कुछ भी हमने लिखा था, हम उस पर अडिग हैं। हमारा पक्ष ऋषि दयानन्द का पक्ष था और हमें हर्ष है कि सार्वदेशिक सभा के प्रधान श्री रामगोपाल जी ने अत्यन्त दूरदर्शिता और बुद्धिमत्ता का परिचय देते हुए ४-१२-'७५ को हमें पत्र भेज कर यह स्वीकार किया था कि—

सायण तथा दयानन्द के वेदभाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन नामक ग्रन्थ को सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा आर्य समाज का प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं मानती। यह एक व्यक्ति का दोनों भाष्यकारों के सम्बन्ध में अपनी बुद्धि के अनुसार तुलनात्मक अध्ययन का परिचय मात्र है। महर्षि के भाष्य पर कुछ पंक्तियाँ हैं जिनमें लेखक ने अपनी अल्प बुद्धि के अनुसार सदृष्ट करने का संकेत किया है जिसे कोई भी आर्य-समाजी विद्वान् और स्पष्ट करने की योग्यता रखता है। महर्षि ने अपने वेद भाष्य द्वारा संसार भर के विद्वानों को जो नया प्रकाश दिया है लेखक ने उसे अनेक स्थलों पर स्वीकार किया है अतः इस सम्बन्ध में हम सबको मिल कर ऋषि भाष्य को जन सामान्य तक पहुंचाने का प्रयत्न करना चाहिए। यही शताब्दी वर्ष की सबसे बड़ी उपलब्धि होगी। यह ग्रन्थ प्रायः समाप्त हो चुका है। **इसे प्रकाशित करने का धन श्री प्रताप सिंह शूरजी वल्लभ दास ने दिया था और आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री जी ने इसे प्रकाशित करने की प्रेरणा की थी। अतः यह अप्रिय विवाद अब समाप्त होना चाहिए।**

इस लेखन के पश्चात् भी उक्त आपत्तिजनक पुस्तक बिक रही है। सभा द्वारा प्रसारित की जा रही है। ऐसी सूचनाएँ हमें मिली हैं। इन सूचनाओं पर विश्वास करना कठिन है। फिर भी यदि यह सत्य है तो इसे हम आर्यसमाज का दुर्भाग्य ही कहेंगे।

इस सैद्धान्तिक विवाद में आर्यसमाज के शीर्षस्थ विद्वानों ने सत्य का साथ दिया, इसके लिए हम उनका अभिनन्दन करते हैं। जिन आर्य समाजों ने निर्भय होकर ऋषि दयानन्द के गौरव की रक्षा के लिए आवाज़ उठाई, वे सब धन्यवाद की पात्र हैं।

जिन आर्यसमाजों ने ऋषि दयानन्द के सम्मान से भी अधिक वर्तमान नेताओं के स्वर में स्वर मिलाया हम उनके भी आभारी हैं। अब यह अप्रिय प्रसंग समाप्त कर दिया गया है। अतः इस विषय में सभी मौन रहें।

सभा के माननीय प्रधान श्री रामगोपाल जी की सेवा में हमारा यह अन्तिम साग्रह विनम्र निवेदन है कि वे स्वयं ध्यान देकर बची पुस्तकें ताले में बन्द करवा दें और उनमें एक शुद्धि पत्र लगवा कर ही बाहर निकालें। —राजेन्द्र जिज्ञासु [illegible]

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

—डा० मंगलदेव शास्त्री, एम. ए., डी. लिट:

हमारी वैदिक परम्पराएं

भारतीय संस्कृति के विकास में वैदिक धारा के बहुमुखी, व्यापक तथा शाश्वतिक प्रभाव की चर्चा प्रायः होती रहती है।

उक्त बहुमुखी, व्यापक तथा शाश्वतिक प्रभाव का मूल वैदिक धारा की व्यापक दृष्टि में ही हो सकता है। वर्तमान लेख में हम उसी व्यापक दृष्टि को संक्षेप में दिखाना चाहते हैं।

परम्परा-प्राप्त भारतीय दृष्टि : प्राचीन भारतीय वाङ्मय में वेदों की महिमा अनेक प्रकार से गायी गई है। उदाहरणार्थ, मनुस्मृति के निम्ननिर्दिष्ट वचनों को देखिए—

सुखाभ्युदयिकं चैव नैःश्रेयसिकमेव च।
प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम ॥ (१२।८८)
पितृ देवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्
अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः ॥ (१२।९४)
चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।

अर्थात्, वैदिक धर्माचरण से मनुष्य अभ्युदय और निःश्रेयस अथवा लौकिक स्वास्थ्य, सुख और आध्यात्मिक कल्याण (उत्तरकालीन शब्दों में, भुक्ति और मुक्ति) दोनों की प्राप्ति कर सकता है ॥८८॥ पितृ-कर्म, देव-कर्म और मनुष्यों के प्रति कर्तव्य कर्मों के विषय में वेद सनातन काल से बराबर मार्ग-प्रदर्शक रहा है। वेद को न तो कोई (एक व्यक्ति) बना सकता है ॥९४॥ ब्राह्मण आदि चारों वर्ण, पृथ्वी आदि तीनों लोक तथा ब्रह्मचर्य आदि चारों आश्रम, इनका आधार वेद ही हैं तथा भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों में वेद मनुष्य-जीवन के लिए प्रेरणा देने वाला है ॥९७॥ वेदज्ञ विद्वान् में सेनापतित्व, राज्य-शासन, दण्डाधिकारित्व अथवा समस्त पृथ्वी का नेतृत्व जैसे दुष्कर कार्यों के भार को उठाने की क्षमता होती है ॥१००॥

इसीलिए वेद को अत्यन्त व्यापक अर्थों में धर्म का एक मात्र मूल माना गया है। जैसे—

धर्माचरण का मूल आधार वेद ही है।

मनु ने जिस धर्म का प्रतिपादन (मनुस्मृति में) किया है, वह सब वेद-मूलक है, क्योंकि वेद सर्व ज्ञानमय है।

जो धर्म को जानना चाहते हैं उनके लिए वेद ही सर्वोत्कृष्ट प्रमाण है, क्योंकि—

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

श्रुति (वेद) और तदनुसारिणी स्मृति (धर्म शास्त्र) से ही धर्म का प्रादुर्भाव हुआ है। इनके प्रतिपाद्य विषयों में कुतर्कणा नहीं करनी चाहिए।

ऊपर के वचनों का अभिप्राय यही है कि अवस्था, अधिकार, स्थान, सम्बन्ध आदि के भेद से मनुष्य के जीवन में जो विभिन्न प्रसंग उपस्थित होते हैं, उन सब की दृष्टि से मार्ग-प्रदर्शन की क्षमता का होना, वैदिक धारा की मुख्य विशेषता सदा से रही है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य जीवन के कर्तव्यों के विषय में वैदिक धारा का दृष्टिकोण, एकांगी या एकदेशी न होकर, सदा से व्यापक रहा है। इसीलिए विभिन्न प्रतिकूल परिस्थितियों में भी वह लुप्त या नष्ट न हो कर, अपने को अब तक जीवित रख सकी है। यही उसके भारतीय संस्कृति के विकास में व्यापक तथा शाश्वतिक प्रभाव का रहस्य है।

भारतीय संस्कृति के अति प्राचीन काल में वैदिकधारा की भव्य उदात्त भावनाएं, और मनुष्य-जीवन के कर्तव्यों के विषय में उसकी व्यापक दृष्टि, वास्तव में एक महान् आश्चर्य और विस्मय की वस्तु है। पृथ्वी भर की सभ्यता के इतिहास में वह अद्वितीय और अनुपम है। उसको देखकर सहसा भगवद्-गीता का यह पद्य सामने उपस्थित हो जाता है—

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्यैनं वेद न चैव कश्चित्॥ (गीता २।२९)

इसमें सन्देह नहीं कि उत्तरकाल की विभिन्न धाराओं में भी, जैसा हम आगे क्रमशः दिखाएँगे, भारतीय संस्कृति का समय-समय पर महान् उपकार हुआ है; तो भी मानवीय जीवन के लिए उपयोगी महान् प्रेरणाओं और आदर्शों की दृष्टि तथा विभिन्न परिस्थितियों में आदर्शवाद की रक्षा के साथ-साथ आत्म-रक्षा तथा लौकिक अभ्युदय की सफलता की दृष्टि से वैदिक धारा की व्यापक दृष्टि न केवल हम भारतीयों के लिए सदा गर्व और गौरव की वस्तु रहेगी, अपितु मानव जाति के लिए भी सार्वभौम तथा सार्वकालिक संदेश की वाहक रहेगी।

उसी व्यापक दृष्टि को यहां जीवन के विभिन्न क्षेत्रों को लेकर क्रमशः दिखाने का यत्न हम यहां करेंगे—

धार्मिक चिन्तन : वैदिक धारा की व्यापक दृष्टि का सबसे उत्कृष्ट और आश्चर्यकारक उदाहरण उसके धार्मिक चिन्तन का विश्वव्यापी आधार है।

छोटे-छोटे देश, जाति या वर्ग के संकीर्ण हित में ही आस्था रखने वाले आज के सभ्यताभिमानी मानव को वैदिक धारा की विश्वव्यापिनी दृष्टि आश्चर्य में डाले बिना नहीं रह सकती।

द्युलोक को पिता, और पृथिवी को माता समझने वाला वैदिक स्तोता अपने को मानो इस विशाल विश्व का अधिवासी समझता है। इसीलिए उसकी स्तुतियों और प्रार्थनाओं में वार-वार न केवल द्यावा-पृथिवी और अन्तरिक्ष, इन तीन लोकों का ही, अपितु इनसे भी परे स्वर और नाक जैसे लोकों का भी उल्लेख पाया जाता है। उदाहरणार्थ,

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा
येन स्वः स्तभितं येन नाकः ।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः
कस्मै देवाय हविषा विधेम ।। (ऋ० १०।१२।१५)

अर्थात्, जिस दैवी शक्ति ने इस विशाल द्युलोक को, इस पृथिवी को, स्वर्लोक और नाक-लोक को अपने-अपने स्वरूप में स्थिर कर रखा है और जो अन्तरिक्ष-लोक में भी व्याप्त हो रही है उसको छोड़ कर हम किस देव की पूजा करें ? अर्थात्, हमको उसी महाशक्ति-रूपिणी देवता की पूजा करनी चाहिए ।

वैदिक प्रार्थनाओं का क्षेत्र कितना विस्तृत और विशाल है, इसका ही एक दूसरा उदाहरण यह है—

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवीः
शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः ।
वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्ति-
र्ब्रह्म शान्तिः सर्वं शान्तिः शान्ति-
रेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ।। (यजु० ३६।१७)

अर्थात् मेरे लिए द्युलोक, अन्तरिक्ष-लोक और पृथिवी लोक सुख-शान्ति-दायक हों; जल, औषधियाँ और वनस्पतियां शांति देने वाली हों, समस्त देवता, ब्रह्म और सब कुछ शांतिप्रद हो । जो शांति विश्व में सर्वत्र फैली हुई है, वह मुझे प्राप्त हो । मैं बराबर शांति का अनुभव करूं ।

कैसी दिव्य और विशाल दृष्टि है इन प्रार्थनाओं की ! इनसे अधिक सार्वभौम और सार्वकालिक प्रार्थनाएँ और क्या हो सकती हैं ? वेद में तो ऐसी ही प्रार्थनाएँ ओत-प्रोत हैं ।

यह भी ध्यान देने की बात है कि आधिदैविक दृष्टि से वैदिक देवताओं का वर्गीकरण भी पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक इन तीन लोकों के आधार पर ही किया गया है । विश्वव्यापिनी दैवी शक्ति की मानो पदे-पदे साक्षात् अनुभूति करने वाली वैदिक धारा के लिए यह स्वाभाविक ही है कि उसके देवताओं का कार्यक्षेत्र भी विश्वव्यापी हो ।

उपर्युक्त अत्यन्त विशाल धार्मिक चिन्तन के आधार पर स्थित वैदिक धारा के समस्त अंगों में व्यापक दृष्टि का होना स्वभाव-सिद्ध है, जैसा कि हम आगे स्पष्ट करेंगे ।

वैदिक धारा का मानवीय पक्ष : विश्वशान्ति और विश्व-बन्धुत्व उदात्त भावनाओं से ओत-प्रोत वैदिक मन्त्रों में मानव मात्र में परस्पर सौहार्द, मित्रता और साहाय्य की भावना का पाया जाना नितराम् स्वाभाविक है ।

उदाहरणार्थ,

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे ।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ।। [यजु० ३६।१८]

अर्थात्, मैं, मनुष्य क्या, सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखूं । हम सब परस्पर मित्र की दृष्टि से देखें ।

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वतः । [ऋग्० ६।७५।१४]

अर्थात् एक दूसरे की सर्वथा रक्षा और सहायता करना मनुष्यों का मुख्य कर्तव्य है ।

यांश्च पश्यामि यांश्च न
तेषु मा सुमतिं कृधि । (अथर्व० १७।१७)

अर्थात्, भगवन् ! ऐसी कृपा कीजिए जिससे मैं मनुष्य मात्र के प्रति, चाहे मैं उसको जानता हूँ अथवा नहीं, सद्भावना रख सकूं !

तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञान पुरुषेभ्यः । [अथर्व० ३।३०।४]

अर्थात् आओ, हम सब मिलकर ऐसी प्रार्थना करें, जिससे मनुष्यों में परस्पर सुमति और सद्भावना का विस्तार हो !

इस प्रकार मनुष्यमात्र के प्रति कल्याण कामना, सद्भावना तथा सौहार्द के प्रतिपादक सैंकड़ों मंत्र वेदों में पाए जाते हैं ।

मनुष्यमात्र में सद्भावना और सौहार्द का हृदयाकर्षक उपदेश देने वाले अथर्व वेद तथा ऋग्वेद के साम्मनस्यसूक्त कदाचित् संसार के सम्पूर्ण वाङ्मय में अपनी उपमा नहीं रखते ।

आदर्श रक्षा तथा आत्म-रक्षा : उपयुक्त उत्कृष्ट मानवीय पक्ष के साथ-साथ वैदिक धारा उदात्त आदर्शों की रक्षा तथा आत्म-रक्षा के लिए वीरोचित संघर्ष तथा युद्ध की आवश्यकता से भी अपरिचित नहीं है । 'सत्य वै देवाः अनृतं मनुष्याः" (अर्थात्, देवता वास्तविकता के अनुगामी होते हैं, पर मनुष्य स्वभाव से ही इसके प्रतिकूल होते हैं ।) इस वैदिक उक्ति के अनुसार मनुष्य का व्यवहार आदर्शवाद से प्रायः दूर रहता है । ऐसी परिस्थिति में, विश्व शांति और विश्वबन्धुत्व के मार्ग पर चलने वालों को भी अपने उत्कृष्ट आदर्शों की रक्षा के लिए अथवा आत्म-रक्षा के ही लिए प्रायः संघर्ष का अपने शत्रुओं और विरोधियों के दमन का, यहां तक कि घोर युद्ध के मार्ग का भी अवलम्बन करना पड़ता है ।

इस अपूर्ण जगत् का यह अप्रिय तथ्य वैदिक धारा से छिपा हुआ नहीं है । इसलिए मन्त्रों में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है—

मा त्वा परिपन्थिनो विदन् (यजु० ४।३४)

अर्थात् इस बात का ध्यान रखो कि तुम्हारी वास्तविक उन्नति के बाधक शत्रु तुम पर विजय प्राप्त न कर सकें ।

योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः । (अथर्व० ३।२७।१।६)

अर्थात्, जो निष्कारण हमसे द्वेष करता है, और इसी कारण जिसको हम अपना द्वेष्य समझते हैं, उसे हम सदा विश्व का कल्याण करने वाली दैवी शक्तियों को सौंपते है, जिससे वे उसको नष्ट कर दें ।

इसी प्रकार आत्म रक्षा और आदर्शरक्षा की भावना से परिपूर्ण सहस्रों मन्त्र वेदों में पाये जाते हैं । उदाहरणार्थ

इन्द्रेण मन्युना वयमभिष्याम पृतन्यतः घ्नन्तो वृत्राण्यप्रति ।। (अथर्व० ७।९३)

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

अर्थात्, सत्कार्यों में बाधक जो शत्रु हम पर आघात करें हमको चाहिए कि वीरोचित क्रोध और पराक्रम के साथ हम उनका दमन करें और उनको विनष्ट कर दें।

अहमस्मि सपत्नहा इन्द्र इवारिष्टो अक्षत:।
अध: सपत्ना मे पदोरिमे सर्वे अभिष्ठिता:॥

अर्थात् मैं शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने वाला हूं। मैं इन्द्र के समान पराक्रमी हूं। मुझे कोई हानि अथवा आघात नहीं पहुंचा सकता। मैं तो अनुभव करता हूं कि मेरे सब शत्रु मेरे पैरों तले पड़े हुए हैं!

मन्त्रों में शत्रुओं के लिए प्राय: 'अव्रत' (=असंयत जीवन व्यतीत करने वाले) अथवा 'वृत्र' (=सत्कर्मों में बाधा डालने वाले) जैसे शब्दों के प्रयोग से स्पष्ट है कि वैदिक मन्त्रों में आदर्श-रक्षा की भावना ही शत्रुओं के संहार की भावना की प्रेरक थी।

मम पुत्रा: शत्रुहण: (ऋग्० १०-१४६-३)

अर्थात्, मेरे पुत्र शत्रु का हनन करने वाले हों! सुवीरासो वयं जयेम (ऋग्० ६।५१ १।२३) अर्थात् हमारे पुत्र सुवीर हों और उनके साथ हम शत्रुओं पर विजय प्राप्त करें!

ऐसी प्रार्थनाएँ और अनेकानेक ऐसे सूक्त जो न केवल अर्थ की दृष्टि से ही, किन्तु सुनने में भी, युद्ध-गीत और युद्ध-क्षेत्र में वीरों के आह्वान जैसे प्रतीत होते हैं, वैदिक धारा की वीरोचित भावना के सुन्दर और हृदयस्पर्शी निदर्शन हैं।

उनसे यह भी स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है कि स्वभावत: विश्व-शांति और विश्वबन्धुत्व को चाहने वाली वैदिक धारा का दृष्टिकोण एकांगी न होकर व्यापक ही है। वह कोरे आदर्शों की ही प्रतिपादक नहीं है, अपितु मनुष्य-जीवन की पूरी परिस्थिति को समझ कर चलती है।

वैदिक धारा का सामाजिक जीवन : 'सामाजिक जीवन' का विचार अत्यन्त व्यापक है। अनेक दृष्टियों से सामाजिक जीवन का वर्णन किया जा सकता है। स्पष्टत: इस छोटे से लेख में यह संभव नहीं है। इसलिए यहां हम कुछ प्रमुख बातों को ही लेकर सामाजिक जीवन के क्षेत्र में वैदिक धारा की व्यापक दृष्टि को दिखाना चाहते हैं। सबसे पहले हम समष्टि-भावना को लेते हैं।

समष्टि-भाव : समष्टि-भावना को हम सामाजिक जीवन का प्राण अथवा मौलिक सिद्धान्त कह सकते हैं। समष्टि-भावना का अर्थ है 'दूसरों के साथ में ही अपने हित के सम्पादन की भावना'।

यह कौन नहीं जानता कि वर्तमान हिन्दू-धर्म में उसका केन्द्र-बिन्दु चिरकाल से बहुत कुछ व्यक्ति-परक रहा। मनुष्य, समाज से दूर भाग कर केवल अपनी ही भलाई को, धर्म के क्षेत्र में भी, सोचता है। यह प्रवृत्ति कब से और किन कारणों से हिन्दुओं में चल पड़ी, इसका विचार हम यहां नहीं करेंगे। तो भी इसमें सन्देह नहीं कि वैराग्य, संन्यास और मुक्ति की भावनाओं से इनको बल अवश्य मिला है।

इसके विरुद्ध, यह देखकर आश्चर्य होता है कि वैदिक प्रार्थनाओं की, जिनसे वेद भरे पड़े हैं सबसे पहली विशेषता उनकी समष्टि-भावना में है। इसीलिए वे प्राय: बहुवचनों में ही होती है। उदाहरणार्थ,

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।
यद् भद्रं तन्न आसुव ॥ (यजु० ३०।३)

अर्थात्, हे देव सवित: ! हमारे लिए जो वास्तविक कल्याण है, उसे हम सब को प्राप्त कराइए ।

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।
धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ (यजु० ३०।३५)

अर्थात् हम सब सवितृ-देव के उस प्रसिद्ध वरणीय तेजोमय स्वरूप का ध्यान करते हैं जो हम सब की बुद्धियों को प्रेरणा प्रदान करे ।

इत्यादि प्रार्थनाओं में बहुवचनों का ही प्रयोग किया गया है । स्वभावत: वैयक्तिक स्वार्थों में लिप्त मनुष्य के सामने समष्टि-भावना का यह आदर्श कितना महान् और आवश्यक है ! समाज की उन्नति और रक्षा के लिए यह समष्टि-भावना कितनी आवश्यक है यह सिद्ध करने की बात नहीं है । वैदिक धारा की व्यापक दृष्टि का स्पष्टत: यह एक सुन्दर निदर्शन है ।

इसके अतिरिक्ति, वेदों के साम्मनस्य सूक्तों में भी, जिनका उल्लेख हम अभी ऊपर कर चुके हैं, स्पष्टत: इस सामाजिक उत्कृष्ट भावना (समष्टि-भावना) का सुन्दर उपदेश मिलता है । जैसे,

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे सं जानाना उपासते । (ऋग्० १०।१९१।२)

अर्थात् हे मनुष्यो ! जैसे सनातन से विद्यामन, दिव्य शक्तियों से सम्पन्न, सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि आदि देव परस्पर अविरोध भाव से, मानो प्रेम से, अपने-अपने कार्य को करते हैं, ऐसे ही तुम भी समिष्ट-भावना से प्रेरित होकर एक साथ कार्यों में प्रवृत्त होओ, एकमत्य से रहो और परस्पर सद्भाव से बरतो ।

यही नहीं, वेदमन्त्रों में तो समष्टि-भावना के व्यावहारिक प्रतीक सह-भोज तथा सह-पान तक का स्पष्ट उल्लेख मिलता है । जैसे—

सग्धिश्च मे सपीतिश्च मे (यजु० १८।९)

अर्थात्, अपने साथियों के साथ में सह-पान और सह-भोज मुझे प्राप्त हों ।

चातुर्वर्ण्य व्यवस्था : वैदिक धारा के सामाजिक जीवन के प्रसंग में चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के विषय में कुछ कहना अत्यन्त आवश्यक है । ऊपर मनुस्मृति के उद्धरणों में स्पष्टत: कहा गया है कि ब्राह्मण आदि चारों वर्णों का प्रारम्भ वेद से ही हुआ है ।

चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था का प्रारम्भ और विकास किस प्रकार हुआ, इस प्रश्न में पड़ने का यह अवसर नहीं है । वैदिक धारा की 'तीन अवस्थाएँ' शीर्षक लेख में वर्ण-विभाग की प्रवृत्ति के प्रारम्भ के विषय में हम कुछ कह चुके हैं । फिर कभी इस विषय को कुछ अधिक स्पष्ट करेंगे ।

उपर्युक्त लेख में ही हमने दिखलाया है कि अपने-अपने स्वार्थ, आजीविका और पेशे की रक्षा की प्रवृत्ति से ही वैदिक धारा में जन्म मूलक वर्ण-विभाग की प्रवृत्ति का प्रारम्भ हुआ और शनैः-शनैः उसके तृतीय काल में वह उसकी एक विशेषता बन गयी । तो भी, उस समय तक इस प्रवृत्ति में वह घोर रूढ़िमूलकता नहीं आई थी, जिसने आगे चल कर वैदिक धारा के प्रवाह को काफी दूषित और विकृत कर दिया ।

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

वैदिक वाङ्मय का सुप्रसिद्ध पुरुष सूक्त ("सहस्रशीर्ष: पुरुष:…" इत्यादि) थोड़े-बहुत भेद से चारों वेदों में आया है। इसी सूक्त में निम्न-लिखित मन्त्र आता है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥ [ऋग्० १०।६०।१२]

अर्थात्, ब्राह्मण इस विराट् पुरुष का मुख-स्थानीय है, क्षत्रिय वाहु-स्थानीय है। शूद्र मानो उसके पैरों से उत्पन्न हुआ है।

सब व्याख्याकारों और वैदिक आचार्यों के अनुसार निर्विवाद रूप से उक्त पुरुष-सूक्त में विश्वव्यापी विराट् पुरुष का वर्णन है। इस प्रसंग में उक्त मन्त्र का वही अर्थ हो सकता है जो हमने ऊपर दिया है।

उक्त मन्त्र में स्पष्टतः आलंकारिक प्रक्रिया द्वारा ब्राह्मण आदि चारों वर्णों में परस्पर अङ्गाङ्गि-भाव के सम्बन्ध को बतलाया गया है। अभिप्राय यह है कि जैसे किसी जीवित शरीर में मुख से लेकर पैर तक सब अंगों में परस्पर गहरा अङ्गाङ्गि-भाव का, परस्पर आश्रयाश्रित-भाव का, सम्बन्ध होता है, वैसे ही समाज-रूपी शरीर में चारों वर्णों का परस्पर गहरा सम्बन्ध है। शरीर में कोई दूसरे अंग की उपेक्षा नहीं करता; एक की पीड़ा से व्याकुल हो जाते हैं; कोई भी अंग अपने लिए नहीं, अपितु दूसरे अंगों के हित में ही काम करता है। वास्तव में किसी भी समुन्नत समाज के विभिन्न अंगों के परस्पर सम्बन्ध के विषय में इससे अच्छा दृष्टान्त हो ही नहीं सकता।

इस प्रकार उपर्युक्त मन्त्र स्पष्टतया एक सभ्य और समुन्नत समाज के विभिन्न वर्गों को ब्राह्मण आदि चार भागों में बांट कर उनमें परस्पर घनिष्ठ अङ्गाङ्गि-भाव के आदर्श सम्बन्ध का प्रतिपादन करता है। यह सम्बन्ध पारस्परिक सहयोग और सामंजस्य के आधार पर ही हो सकता है। किंचिन्मात्र भी संघर्ष की भावना उसको समूल नष्ट करने के लिए पर्याप्त है। समाज का इस प्रकार का चित्रण, हमारे मत में, वैदिक धारा की व्यापक और वैज्ञानिक दृष्टि का एक परम उज्ज्वल निदर्शन है।

चारों वर्णों के परस्पर सम्बन्ध में यह आदर्श स्थिति वास्तव में कब और कितने काल तक रही, यह कहना कठिन है। तो भी कम से कम आदर्श रूप में उसकी स्थिति में संदेह नहीं हो सकता। इसकी पुष्टि उन मन्त्रों से और भी होती है, जिनमें स्पष्टतया समस्त समाज और शूद्रों सहित सब वर्णों के प्रति समत्व-बुद्धि और हित-भावना का वर्णन मिलता है। उदाहरणार्थ,

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचारुचम् ॥ [यजु० १८।४८]

अर्थात्, शोभा और दीप्ति के निधान भगवन्! आप हमारे ब्राह्मणों में दीप्ति को धारण कीजिए! हमारे क्षत्रियों को दीप्तिमान् कीजिए! हमारे वैश्यों और शूद्रों को दीप्ति-युक्त कीजिए! और इस प्रकार हमारे समाज में सब ओर दीप्ति के प्रसार द्वारा मुझे सदा दीप्तिमान् कीजिए!

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥ [अथर्व० १६।६२।१]

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

अर्थात् भगवन्! मुझे देवों में (=देवताओं में अथवा विद्वानों में) प्रिय बनाइये! मुझे क्षत्रियों में प्रिय बनाइए। मुझे शूद्रों और वैश्यों में तथा अन्य सब प्राणियों का भी प्रिय बनाइए!

यथेमा वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च······ [यजु० २६।२]

अर्थात् भगवन्! मुझे ऐसा बनाइए कि में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अर्थात् सारी जनता के लिए कल्याण करने वाले ज्ञान का प्रचार और प्रसार कर सकूं।

कैसी सुन्दर और उदात्त भावना है इन वेद मन्त्रों की! किसी एक वर्ग के लिए नहीं, किन्तु सम्पूर्ण समाज और सारी जनता के प्रति। वैदिक धारा की व्यापक दृष्टि का इससे अच्छा प्रमाण और क्या हो सकता है?

यह ठीक है कि यही चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था क्रमशः विकृत होती हुई देश के लिए अभिशाप रूप हो गई। आगे चलकर उसने परस्पर अविश्वास, संघर्ष और विद्वेष का रूप धारण कर लिया। शूद्र के प्रति तो कठोर दृष्टि चरमसीमा तक पहुंच गई। परन्तु यह कितने संतोष, आह्लाद और विस्मय का विषय है कि वेद मन्त्रों में उस संकीर्ण-भावना का चिह्न भी नहीं है। चारों वेदों में शूद्र के प्रति अन्याय अथवा कठोर दृष्टि कहीं भी नहीं मिलेगी! अपनी इन्हीं उदार और उदात्त भावनाओं के कारण वैदिक धारा हम भारतवासियों के लिए सदा से श्रद्धा और सम्मान की वस्तु रही है और आगे भी रहेगी।

चतुराश्रम्य व्यवस्था : लेख के आरम्भ में दिये गये मनुस्मृति के उद्धरणों के अनुसार, ब्राह्मण आदि चारों वर्णों के समान, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास इन चारों आश्रमों का प्रारम्भ भी वेद से ही हुआ है।

ब्रह्मचर्य और गृहस्थ इन दो आश्रमों के सम्बन्ध में वेद मन्त्रों में जो उत्कृष्ट और भव्य विचार प्रकट किये गये हैं, उनको हम बिना किसी अतिशयोक्ति के भारतीय संस्कृति की स्थायी अमूल्य सम्पत्ति कह सकते हैं। वेदों के अनेकानेक मन्त्रों में ब्रह्मचर्य और गृहस्थ का बड़ा हृदयस्पर्शी वर्णन मिलता है। उदाहरणार्थ, अथर्ववेद के एक पूरे सूक्त (११।५) में

ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद्‌बिभर्त्ति।
तस्मिन् देवा अधि विश्वे समोताः॥ [अथर्व ११।५।२४]

ब्रह्मचारी..... श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति। [अथर्व० ११।५।४]

ब्रह्मर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते। [अथर्व० ११।५।१७]

अर्थात्, ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करने वाला ही प्रकाशमान ज्ञान-विज्ञान को धारण करता है। उसमें मानो समस्त देवता वास करते हैं। ब्रह्मचारी श्रम और तप से युक्त सारी जनता को पुष्टि प्रदान करता है। ब्रह्मचर्य के तप से ही राजा अपने राष्ट्र की रक्षा में समर्थ होता है। ब्रह्मचर्य द्वारा ही आचार्य शिष्यों के शिक्षण की योग्यता को अपने में संपादन करता है।

यहाँ स्पष्ट शब्दों में राष्ट्र की चतुरस्र उन्नति के लिए और मानव जीवन के विभिन्न कर्तव्यों के सफलतापूर्वक निर्वाह के लिए श्रम और तपस्या द्वारा विद्या-

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

प्राप्ति (ब्रह्मचर्य) की अनिवार्य आवश्यकता का प्रतिपादन किया गया है। मन्त्र में 'श्रम' और 'तप' ये दो शब्द विशेष ध्यान देने योग्य हैं। क्या आजकल की अत्यन्त कठिन शिक्षा-समस्या के लिए इनसे कोई प्रेरणा और संकेत नहीं मिल सकता ? श्रम और तपस्या पर निर्भर ब्रह्मचर्य-आश्रम की सद्भावना वैदिक धारा की व्यापक दृष्टि का निःसन्देह एक समुज्ज्वल प्रमाण है।

गृहस्थ-आश्रम के सम्बन्ध में सबसे उत्कृष्ट विचार हमें वेदों के विवाह संबंधी सूक्तों में तथा साम्मनस्य-सूक्तों में मिलते हैं। विस्तार के भय से यहाँ केवल दो-चार उद्धरण देना पर्याप्त होगा।

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं......
मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः [ऋग्० १०।८५।३६]
समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नो। ऋग्० [१०।८५।४७[
ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोकेऽरिष्टां त्वा सह पत्या दधामि।
[ऋग् १०।८५।२४]
अस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि। ऋग्० १०।८५।२७
मा विदन् परिपन्थिनो य आसिदन्ति दम्पती।
सुगेभिर्दुर्गमतीताम्...... [ऋग्० १०।८५।३२]
सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव। [ऋग्० १०।८५।४६]
इहैव स्तं मा वि यौष्टं। [ऋग्० १०।८५।४७]
स्योनास्यै सर्वस्यै विशे। [अथर्व० १४।२।२७]

अर्थात् हे वधु ! हम दोनों की सौभाग्य समृद्धि के लिए मैं तुम्हारे पाणि का ग्रहण कर रहा हूं। मैं समझता हूं कि मैंने तुम्हें देवताओं से प्रसाद रूप में गृहस्थ-धर्म के पालन के लिए पाया है—

समस्त दैवी शक्तियाँ हमारे हृदयों को परस्पर अनुकूल, कर्तव्यों के पालन में सावधान और जलों के समान शान्त तथा भेद-भाव से रहित करें।

विवाह का लक्ष्य यही है कि पति-पत्नी दोनों गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होकर संयम तथा सच्चरित्रता का पवित्र जीवन व्यतीत करते हुए अपना पूर्ण विकास कर सकें।

आर्य बन्धु ! तुम पति-गृह में पहुंच कर गृहस्थ के कर्तव्य-पालन में सदा जागरूक और सावधान रहना !

वे दुर्भावनाएँ, जो प्रायः पति-पत्नी के जीवन में भेद और विराग उत्पन्न कर देती हैं तुम दोनों के बीच में कभी न आएँ। तुम दोनों सच्चरित्रता के साथ इस कठिन गृहस्थ धर्म का पालन करो।

हे वधु ! तू पति-गृह में सास-ससुर के लिए सम्राज्ञी के रूप में प्रेम और सम्मान का पात्र वन कर रहना। !

पति-पत्नी तुम दोनों जीवन में एकमत हो कर रहो, तुम्हारा वियोग कभी न हो !

हे वधु ! तुम्हारा गृहस्थ-जीवन सारी जनता के लिए सुख देने वाला हो।

वैवाहिक जीवन के पवित्र और महान् लक्ष्य की ओर स्पष्ट संकेत करने वाले इन उदात्त विचारों पर टीका-टिप्पणी की आवश्यकता नहीं है। देखना तो यह है

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

कि भारतीय इतिहास के मध्य-काल के उन लज्जाजनक विचारों से ये कितने भिन्न हैं जिनके अनुसार स्त्री को 'उपभोग की सामग्री' 'नरक का द्वार' (नारी नरकस्य द्वारम्) 'ताडन का अधिकारी' 'आदमी की दासी' तक कहा गया है।

इसी प्रकार वेदों के साम्मनस्य सूक्तों में, जिनका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं, गृहस्थ-जीवन के सम्बन्ध में जो सुन्दर भाव प्रकट किये गये हैं, वे भी वैदिक धारा की एक महान् निधि हैं। उदाहरणार्थ

सहृदयं साम्मनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥
अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु सम्मनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम् ॥
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया । [अथर्व०]

अर्थात्, हे गृहस्थो ! तुम्हारे पारिवारिक जीवन में परस्पर ऐक्य, सौहार्द और सद्भावना होनी चाहिए। द्वेष की गन्ध भी न हो। एक-दूसरे को उसी तरह प्रेम करो, जैसे गौ अपने तुरन्त उत्पन्न हुए बछड़े को प्यार करती है।

पुत्र अपने माता-पिता का आज्ञानुवर्ती और उनके साथ एकमन होकर रहे। पत्नी अपने पति के प्रति मधुर और स्नेह-युक्त वाणी का ही व्यवहार करे।

भाई भाई के साथ और बहिन बहिन के साथ द्वेष न करे !

तुम्हें चाहिये कि एक मन होकर समान आदर्शों का अनुसरण करते हुए परस्पर स्नेह और प्रेम को बढ़ाने वाली वाणी का व्यवहार करो।

पारिवारिक जीवन में स्वर्गीय सुख और शान्ति लाने के लिए इससे अच्छा उपदेश और क्या हो सकता है ?

राजनीतिक आदर्श : राजनीतिक आदर्शों के विषय में भी वैदिक मन्त्रों के अनेक ऐसे विचार हैं, जो वैदिक धारा की व्यापक दृष्टि को स्पष्टतः प्रमाणित करते हैं।

सभ्यता के इतिहास में राज-संस्था अति प्राचीन काल से चली आ रही है। वैदिक काल में भी इसकी स्थिति थी, ऐसा वेद मन्त्रों से ही स्पष्ट प्रतीत होता है। ऐसा होने पर भी, वेदमन्त्रों में जन-तन्त्र की भावना और जनता अथवा प्रजा के पक्ष का समर्थन यत्र-तत्र मिलता है। उदाहरणार्थ,

"विशि राजा प्रतिष्ठितः" [यजु० २०।६]

अर्थात्, राजा की स्थिति प्रजा पर ही निर्भर होती है।

"त्वां विशो वृणुतां राज्याय" [अथर्व० ३।४।२]

अर्थात्, हे राजन् ! प्रजाओं द्वारा तुम राज्य के लिए चुने जाओ।

"विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु" [अथर्व० ४।८।४]

अर्थात्, हे राजन् ! तुम्हारे लिए यह आवश्यक है कि समस्त प्रजाएँ तुमको चाहती हों।

ऐतरेय ब्राह्मण में तो यहां तक कह दिया है कि

"राष्ट्राणि वै विशः" [ऐत० ब्रा० ८।२६]

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

अर्थात् प्रजाएँ ही राष्ट्र को बनाती हैं। इसके अतिरिक्त, वेद-मन्त्रों में यह भावना भी स्पष्टतया देखी जाती है कि राष्ट्र की उन्नति के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि उसके सब अंगों का विकास हो और समस्त जनता की समृद्धि और सुख ही उसका प्रथम ध्येय हो।

राजनीतिक आदर्शों के सम्बन्ध में वेद-मन्त्रों की ये उदार और उदात्त भावनाएँ वैदिक धारा के लिए वास्तव में गर्व और गौरव का विषय हैं।

वैयक्तिक जीवन : अन्त में वैयक्तिक जीवन के सम्बन्ध में वेद-मन्त्रों की विचार-धारा का संक्षेप में निर्देश करके हम इस लेख को समाप्त करते हैं।

वैदिक उदात्त भावनाओं आदि के विषय में जो कुछ हम कह चुके हैं, उससे वैदिक कालीन वैयक्तिक जीवन पर काफी प्रकाश पड़ता है। तो भी वैयक्तिक जीवन के विकास की दृष्टि से वैदिक धारा के आदर्शों के विषय में यहां कुछ कहने की आवश्यकता है।

ऋत और सत्य, निष्पाप-भावना, श्रद्धा, आत्म-विश्वास, ब्रह्मचर्य, व्रत, श्रम, और तपस्, वीरता और शत्रु संहार (वृत्रहनन) आदि की महिमा से ओतप्रोत वेद-मन्त्रों से यह स्पष्टतया प्रतीत होता है कि वैदिक धारा की दृष्टि से वैयक्तिक जीवन का सर्वांगीण विकास आवश्यक समझा जाता था। इसलिए वेद-मन्त्रों में बौद्धिक तथा नैतिक विकास के साथ-साथ शारीरिक स्वास्थ्य और दीर्घायुष्य के लिए गम्भीर प्रार्थनाएँ पदे-पदे देखने में आती हैं।

वेद की बुद्धि-विषयक प्रार्थनाएँ प्रसिद्ध हैं, जिनमें गायत्री मन्त्र (तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्। यजु० ३।३५) सुप्रसिद्ध है।

नैतिक प्रार्थनाओं का दिग्दर्शन हम वैदिक उदात्त भावनाओं के प्रसंग में करा चुके हैं। उसी प्रसंग में दीर्घायुष्य और पूर्णायुष्य की सुन्दर प्रार्थनाओं का भी संकेत किया जा चुका है।

शारीरिक स्वास्थ्य के लिए महत्त्व-युक्त प्रार्थनाओं के कुछ उदाहरण हम नीचे देते हैं—

तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि ॥
आयुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि ॥
यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आ पृण ॥ (यजु० ३।१७)

अर्थात् अग्ने! तुम शरीर की रक्षा करने वाले हो, मेरे शरीर को पुष्ट कीजिए। तुम आयु को देने वाले हो, मुझे पूर्ण आयु दीजिए। मेरे शारीरिक स्वास्थ्य में जो भी न्यूनता हो उसे पूरा कर दीजिए।

वाङ् म आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः ॥
अपलिताः केशा अशोणा दन्ता वहु वाह्वोर्बलम् ॥
ऊर्वोराजो जङ्घयोजर्वः पादयोः प्रतिष्ठा ॥ (अथर्व० १९।६०।१।२)

अर्थात्, मेरे समस्त अंग पूर्ण स्वस्थता से अपना-अपना कार्य करें, यही मैं चाहता हूं, मेरी वाणी, प्राण, आंख और कान अपना-अपना काम कर सकें। मेरे वाल काले रहें। दांतों में कोई रोग न हो। वाहुओं में बहुत बल हो। मेरी ऊरुओं में ओज, जांघों में वेग और पैरों में दृढ़ता हो!

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो अपानो
व्यानौ: चक्षु: श्रोत्रं वाग् मनो आत्मा
यज्ञेन कल्पतां स्वाहा ।। [यजु०]

अर्थात्, प्राकृत जगत् में काम करने वाली अग्नि, वायु आदि दैवी शक्तियों के साथ-साथ सामञ्जस्य का जीवन (यज्ञ) व्यतीत करते हुए मैं पूर्णायुष्य को प्राप्त कर सकूँ; मेरी प्राण, अपान आदि शक्तियां तथा चक्षु आदि इन्द्रियां अपना-अपना कार्य ठीक तरह कर सकें; और इस प्रकार मेरे व्यक्तित्व का पूर्ण विकास हो—यही मेरी आन्तरिक कामना है, यही मेरी हार्दिक अभिलाषा और प्रार्थना है।

"अश्मा भवतु नस्तनू:" (यजु० २४।४)

अर्थात्, हमारी प्रार्थना है कि हमारा शरीर पत्थर के समान सुदृढ़ हो !

जो कुछ ऊपर कहा गया है, उससे स्पष्ट है कि वैदिक धारा की सबसे बड़ी विशेषता उसकी व्यापक दृष्टि है। वह व्यष्टि और समष्टि दोनों दृष्टियों से मानव के सर्वांगीण विकास को चाहती है। जीवन की सब परिस्थितियों में मनुष्य सफलतापूर्वक अपना पूर्ण विकास कर सके, यही उसका प्रधान लक्ष्य है। भारतीय संस्कृति के उत्तर-कालीन शब्दों में हम कह सकते हैं कि वैदिक धारा का सदा से मुख्य ध्येय यही रहा है कि मनुष्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूपी चारों पुरुषार्थों की अथवा अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति कर सके। इसी से मनुष्य जीवन के कर्तव्यों के विषय में उसका दृष्टिकोण एकांगी या एक देशीय न हो कर सदा से व्यापक रहा है। यही उसके भारतीय संस्कृति के विकास में व्यापक और शाश्वतिक प्रभाव का रहस्य है।

दयालुता

जैसे ही वे कार में बैठे, एक बूढ़ा आदमी गिड़गिड़ाते हुए बोला, "क्या आप मुझे इस कोठी के मालिक से मिला सकते हैं ?"

"आपको उनसे क्या काम है ?" उन्होंने पूछा।

"मेरी बेटी की शादी है, तीन सौ रुपये की सख्त जरूरत है।"

"मेरे साथ इसी गाड़ी में चले चलिये। मैं आपको अभी उनसे मिलाये देता हूं।" वृद्ध बड़े संकोच के साथ कार में बैठ गया। थोड़ी देर बाद एक बड़े दफ्तर के सामने कार रुकी और उन्होंने बूढ़े से कहा, "आप थोड़ी देर गाड़ी में रुकिये, मैं अभी आया।"

पाँच-सात मिनट बाद एक नौकर बाहर आया और वृद्ध को पाँच सौ रुपये देते हुए बोला, "लीजिये, तीन सौ आपकी पुत्री की शादी के लिए और दो सौ रुपये शादी के बाद घर-खर्च के लिए।"

"धन्यवाद भाई," गदगद् स्वर में वृद्ध ने कहा, "मगर कोठी के मालिक से तो भेंट नहीं हुई !"

नौकर बोला, "आप जिनके साथ कार में यहाँ तक आये, वे ही कोठी के मालिक बाबू चितरंजन दास हैं।"

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

—श्री दत्तात्रेय वाब्ले
(संचालक, डी० ए० वी० कालिज, अजमेर)

आर्यसमाज का भविष्य: एक चेतावनी

आर्यसमाज का भविष्य इस बात पर निर्भर है कि वह अपना अस्तित्व स्वतन्त्र और पृथक् बनाये रख सकता है या नहीं अथवा हिन्दू धर्म की नमक की खान में अनेक अन्य सम्प्रदायों के समान विलीन होना ही उसका अनिवार्य अन्त है। उसका पृथक् अस्तित्व रहने पर ही उसके भावी विकास और विस्तार का प्रश्न विचारणीय हो सकता है। आर्यसमाज के संस्थापक ऋषि दयानन्द से अजमेर में रायबहादुर श्याम सुन्दरलाल जी ने जब यह निवेदन किया कि वे मूर्तिपूजा के खंडन पर इतना जोर न दें तो स्वामी जी ने उन्हें जो उत्तर दिया वह हमारी इस आशंका का समर्थन करता है। उन्होंने कहा था कि "मैं यह जानता हूँ कि ऐसा करने पर मेरे अनुयायियों की संख्या बढ़ जावेगी और मेरा विरोध करने वालों तथा मुझे गालियाँ देने वालों की संख्या घट जावेगी किन्तु यदि मैंने मूर्तिपूजा के साथ समझौता कर लिया तो मुझे अन्य सिद्धान्तों के सम्बन्ध में भी वैसा ही करना पड़ेगा और कालान्तर में आर्यसमाज भी पौराणिक हो जावेगा और हिन्दुत्व में समा जावेगा।" किन्तु गत सौ वर्षों के उसके इतिहास से स्पष्ट है कि स्वामीजी की मृत्यु के बाद आर्यसमाज में धीरे-धीरे अपने सिद्धान्तों के बारे में समझौते की भावना ने घर कर लिया है और इस प्रकार अब स्वामी जी की शंका आर्य जगत् के लिए एक खुली चुनौती बन गई है।

समझौते का प्रारम्भ

आर्यसमाज की निर्बलता का मुख्य कारण उसकी जड़ में प्रारम्भ से ही लगा जात पात का घुन तो है ही किन्तु अपने सिद्धांतों से समझौते की यह प्रवृत्ति स्वामीजी के देहान्त के बाद उत्पन्न देश की राजनैतिक परिस्थितियों, हिन्दू-मुस्लिम संघर्षों और हिन्दू संगठन के आह्वान आदि कुछ ऐतिहासिक कारणों का भी परिणाम है।

गांधी युग से पूर्व आर्यसमाज ही एकमात्र ऐसा संगठित आन्दोलन था जिसे स्वराज्य और स्वदेशी के साथ धार्मिक और सामाजिक सुधार का आन्दोलन कहा जा सकता था। महात्मा गांधी ने कांग्रेस को एक जन आन्दोलन बनाकर उसके मच से आर्यसमाज के अनेक प्रमुख कार्यक्रमों को अपना लिया। यद्यपि अनेक धार्मिक प्रश्नों पर उनका दृष्टिकोण आर्यसमाज से भिन्न और कभी-कभी विरोधी तक रहा है। यह आन्दोलन मुख्य रूप से देश की स्वाधीनता का आन्दोलन था। इसलिये स्वभावतः ऋषि दयानन्द की स्वराज्य और स्वदेशी की भावनाओं से प्रभावित आर्यसमाज के अनेक योग्य और लगन के कार्यकर्त्ता काँग्रेस के इस आन्दोलन में सम्मिलित हो गये। यह स्वाभाविक भी था, किन्तु इसका परिणाम आर्यसमाज की शक्ति और प्रभाव के

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

लिये हानिकर सिद्ध हुआ। राजनैतिक संघर्ष के इस युग में "स्वराज्य पहले, धर्म और समाज सुधार बाद में और यह सम्भव न हो तो 'राज्य' के लिए स्व की भी उपेक्षा की जा सकती है।" इस प्रकार की विचार धारा ने आर्यसमाज की शक्ति को पहला झटका दिया। क्योंकि आर्यसमाज की विचार धारा का मुख्य आधार यह था कि राष्ट्रीय एकता और स्वराज्य की प्राप्ति के नाम पर हम धार्मिक अन्धविश्वासों तथा सामाजिक कुरीतियों का समर्थन नहीं कर सकते। जैसा लोकमान्य तिलक जैसे उग्र देशभक्त तक कहते थे। उनकी दृष्टि में देश की अच्छी बुरी सब बातों का समर्थन करना देश प्रेम समझा जाता था। ऋषि दयानन्द की साहसपूर्ण क्रान्ति की यह विशेषता थी कि जहाँ वे स्वराज्य को माता पिता जैसे अच्छे विदेशी सुराज्य से भी श्रेष्ठ समझते थे वहाँ उनका यह भी विश्वास था कि जब तक हम अपनी राष्ट्र-विरोधी धार्मिक और सामाजिक बुराइयों का भी साथ-साथ निर्भयतापूर्वक निराकरण नहीं कर पाते तब तक हमारा देश एक सबल राष्ट्र नहीं बन सकता। कुछ अंशों में गांधी जी ने भी अछूतोद्धार आदि सामाजिक सुधारों को कांग्रेस के आन्दोलन का अंग बनाकर इस विचार धारा को स्वीकार किया।

काँग्रेस और खिलाफत

हिन्दू-मुस्लिम एकता को स्वराज्य प्राप्ति की अनिवार्य शर्त मानकर महात्मा जी ने उसे प्राप्त करने के लिये जो प्रयत्न और महान् त्याग किया वह प्रशंसनीय होने पर भी सफल नहीं हो सका जैसा बाद में पाकिस्तान की स्थापना से स्पष्ट है। गांधी जी द्वारा खिलाफत जैसे विदेशी और मुस्लिम धार्मिक आन्दोलन के समर्थन के बावजूद देश में हिन्दू-मुसलमानों का संघर्ष और अधिक उग्र हो गया। एक ओर काँग्रेस ने उन्हें सन्तुष्ट करने के लिये हिन्दुओं को अपने अधिकारों का त्याग करने की सलाह दी और दूसरी ओर अंग्रेजी सरकार मुसलमानों को काँग्रेस से ज्यादा अधिकार और सहूलियतें देने का प्रलोभन देती रही। इस प्रतिस्पर्धा में अंग्रेजी सरकार की सफलता स्वाभाविक थी, क्योंकि उनके हाथ में शासन और सत्ता थी। दूसरी ओर काँग्रेस, जिन्ना के शब्दों में "केवल भविष्य में स्थापित होने वाले बैंक" का ही चैक दे सकती थी। बढ़ती हुई मुस्लिम साम्प्रदायिकता के विरुद्ध हिन्दुओं में भी प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक था। परिणाम स्वरूप उनमें भी हिन्दू संगठन का आन्दोलन प्रारम्भ हुआ और हिन्दुओं के हितों की रक्षा के लिये आर्यसमाज को पुनः अपने सिद्धान्तों और मान्यताओं से समझौता करना पड़ा। इसी प्रकार बाद में हिन्दू रक्षा के नाम पर जनसंघ तथा राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ में भी अनेक उत्साही आर्यसमाजियों के सम्मिलित हो जाने से उसे क्षति होना स्वाभाविक था। मेरा आशय यह नहीं है कि आर्यसमाज को इन संघर्षों से अलग रहना चाहिए था। ऐसा करना समाज के आधारभूत उद्देश्य और मान्यताओं के विपरीत होता। देश प्रेम और स्वराज्य की प्रथम प्रेरणा देने वाले दयानन्द के अनुयायी स्वाधीनता के इस आन्दोलन से पृथक् नहीं रह सकते थे। और न ही उन्हें रहना चाहिए था। इसी प्रकार हिन्दू जाति की रक्षार्थ अनेक बलिदान देने वाला आर्यसमाज हिन्दुओं पर आये संकट के समय भी तटस्थ नहीं रह सकता था, किन्तु इन दोनों अवसरों पर नेतृत्व और मार्ग दर्शन करने के स्थान में आर्यसमाज केवल अनुयायी (camp follower) बन गया।

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

पौराणिक आय

आर्यसमाज के योग्य और उत्साही कार्यकर्त्ता इस प्रकार राजनैतिक क्षेत्र में चले गये। उनके स्थान में ऐसे लोगों की भर्ती होने लगी जो सर्वथा अवसरवादी कहे जा सकते हैं। उदाहरण के लिये आर्यसमाज में देशभक्त और क्रान्तिकारी कार्यकर्ताओं के स्थान में सरकारपरस्तों और रूढ़िवादियों ने स्थान लेना प्रारम्भ कर दिया। उस समय आर्यसमाज का एक विशेष आकर्षण था। इसलिये उसकी लोकप्रियता का लाभ उठाकर अनेक व्यक्ति उसे एक सामाजिक क्लब अथवा सार्वजनिक जीवन में प्रवेश का साधन समझने लगे। इनके नेतृत्व में आर्यसमाज ने न केवल राजनैतिक बल्कि धार्मिक और सामाजिक मामलों में भी समझौते का मार्ग अपना लिया। उसके संस्थापक ने हमारे सामने सिद्धान्तों की दृढ़ता और उसके लिये त्याग और बलिदान करने का जो आदर्श रखा था उसे हम धीरे-धीरे छोड़ते गये। पहले जात-पाँत के विरोध तथा सहभोजों आदि के कारण हमारे कार्यकर्ता जाति बहिष्कृत होने में अपना गौरव मानते थे अब जाति-सभाओं के नेता आर्यसमाज के भी मंत्री और प्रधान होने लगे। जिन मूर्ति-पूजा, श्राद्ध आदि अन्धविश्वासों को उखाड़ फेंकने के लिये ऋषि दयानन्द ने अनेक बार जहर खाया, उनके समर्थकों के लिये समाज के दरवाजे खोल दिये गये। आर्यसमाजों में ही नहीं प्रतिनिधि, परोपकारिणी और सार्वदेशिक जसी सभाओं में भी अनेक सदस्य और अधिकारी नियमित रूप से मूर्तिपूजा करने वाले होने लगे। कुछ के तो घरों में अनेक देवी देवताओं के मंदिर या पूजाघर तक देखे गये। आर्य स्पेशल ट्रेनों में जाने वाले यात्री अजमेर में ऋषि दयानन्द के निर्वाण स्थलों को देखने के स्थान में पुष्कर तीर्थ में स्नान करने के लिये भागते हैं। टंकारा और मथुरा जाने में भी बहुत-सों का उद्देश्य द्वारका और वृन्दावन की यात्रा होती है। श्राद्ध, मृत्युभोज, बालविवाहों के अवसर पर गणेश आदि देवी देवताओं की पूजा और भाषणों में छुआछूत का विरोध, किन्तु व्यवहार में उसका पालन करने वाले आर्य सभासदों और पदाधिकारियों का सर्वेक्षण किया जावे तो आश्चर्य होगा। कुछ सिद्ध हस्त वक्ता प्रचार में आर्य और व्यवहार में पौराणिक हैं। आर्यसमाज के हजारों डी० ए० वी० स्कूल, कॉलेज, आर्य कन्या विद्यालय और गुरुकुल हैं, उनमें से अधिकतर में नाम के सिवाय आर्यसमाज और ऋषि दयानन्द का प्रभाव तो दूर वातावरण तक नहीं देखने में आता। विद्यार्थी तो दूर अधिकतर प्राध्यापक और प्राचार्य तक समाज के सिद्धान्तों और विचारों से परिचित नहीं होते, व्यवहार का तो कहना ही क्या ?

संस्थाओं का आकर्षण

इन शिक्षण संस्थाओं की सम्पत्ति और पदों का भी ऐसा आकर्षण है जिसके कारण कोई भी सनातनी हिन्दू धर्म-निरपेक्ष राजनेता आर्य बन जाता है मानो केवल प्रवेश पत्र भर देने से उसका कायाकल्प हो जाता है। आर्यसमाज के प्रजातन्त्रात्मक विधान के कारण राजनैतिक दलों के समान आर्य जगत् में दलबन्दी एक संक्रामक रोग हो गया है। चुनावों के लिये चवन्नी चन्दा देकर सदस्यों की भर्ती की जा सकती है और उनके आधार पर सभाओं के चुनाव में बहुमत प्राप्त किया जा सकता है।

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

कागजी समाजें

अनेक राज्यों में बहुत-सी आर्यसमाजें ऐसी हैं जिनका अस्तित्व केवल कागजों पर होता है, न उनके भवन हैं, न नियमित अधिवेशन होते हैं और न ही कोई अन्य कार्य किये जाते हैं। उनका एकमात्र उपयोग "जेबी चुनाव क्षेत्रों" की तरह प्रतिनिधि सभाओं में प्रतिनिधियों की संख्या बढ़ाना होता है। आर्यसमाज के अधिकतर सदस्यों के लिये सिद्धान्तों और नियमों का पालन तो दूर प्रशिक्षण या जानकारी का भी कोई प्रबन्ध नहीं है। परिणामस्वरूप जहां साप्ताहिक सत्संगों में समाज मंदिर खाली पड़े रहते हैं वहां चुनाव में आर्यों की अपार भीड़ हो जाती है। गत दो वर्षों में मुझे एक प्रतिनिधि सभा के चुनावों में भाग लेने का अवसर मिला, वहाँ भीड़तन्त्र का जो दृश्य देखने को मिला और खींचातानी और हाथापाई तक के दृश्य देखे तो मुझे लगा कि मेरे कालेज के विद्यार्थी भी अपने छात्र संघों के चुनाव में अधिक शालीनता का परिचय देते हैं।

चिन्ताजनक भविष्य

यही वह चिन्ताजनक स्थिति है जिसके कारण आर्यसमाज के अस्तित्व के सम्बन्ध में भी तटस्थ प्रेक्षकों को शंका होने लगती है। "धर्मों के विश्वकोष" के प्रसिद्ध लेखक जेम्स हैस्टिंग्ज ने आर्यसमाज के गौरवपूर्ण प्रारम्भ तथा ऋषि दयानन्द की धार्मिक और सामाजिक क्रांति की प्रशंसा करने के बाद उसके भविष्य के बारे में लिखा है।

"As regards the future of the Aryasamaj it is difficult to play the prophet. But since it keeps in close touch with Orthodox Hinduism, through the fact that comparatively few have broken the caste, the question arises, if it will ultimately be reabsorbed into the abyss of Hinduism as some think probable or if it will advance to a still more rational and enlightened position."[1]

अर्थात् "आर्यसमाज के भविष्य के सम्बन्ध में भविष्य वक्ता होना कठिन है किन्तु उसके बहुत कम सदस्यों ने जातपांत को तोड़कर कट्टर हिन्दू धर्म से अपना सम्पर्क तोड़ा है, इसलिये यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या अन्त में आर्यसमाज हिन्दू धर्म के अन्धकूप में विलीन हो जावेगा, जैसा कुछ लोग सोचते हैं या वह और अधिक बुद्धिसंगत और प्रगतिशील स्थिति को प्राप्त करेगा।"

सर्वभक्षी जातपांत

पौराणिक हिन्दू धर्म की सर्वभक्षी शक्ति उसकी जातपांत में निहित है। इसीलिये उपरोक्त लेखक के समान अन्य प्रेक्षकों की भी यह मान्यता है कि आर्य-समाज जैसा क्रान्तिकारी आन्दोलन भी हिन्दू जाति प्रथा की इस नमक की खान का शिकार बन जावेगा। जातपांत का यह भस्मासुर राष्ट्रीय और सामाजिक एकता का

1. Encyclopaedia of Religion and Ethics Vol. II, Page 61.

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

तो शत्रु है ही वह छुआछूत और अस्पृश्यता का भी जनक है। आर्यसमाज की दृष्टि से वह और भी ज्यादा घातक इसलिये भी है कि मूर्तिपूजा, श्राद्ध, तीर्थयात्रा और गुरुडम आदि अनेक धार्मिक अन्धविश्वास जात-पांत के आश्रय से ही पलते हैं, प्रत्येक जाति के अपने रीति रिवाज है जिनमें विवाह, मृत्यु आदि अवसरों पर गणेशपूजा, हरिद्वार में अस्थिविसर्जन और बारहवें दिन मृत्यु भोज सब बिरादरी की परम्परा के नाम पर किये जाते हैं। इन सारी धार्मिक और सामाजिक कुरीतियों को स्वयं अथवा अपने घर की बड़ी बूढ़ी स्त्रियों के नाम पर बनाये रखा जाता है। दूसरे शब्दों में आज अधिकतर आर्यों में तथा अन्य हिन्दुओं में कोई अन्तर नहीं है। हिन्दू एकता और संगठन के नाम पर बड़े अभिमान से कहा जाता है कि आज का आर्यसमाजी आधा सनातनी हिन्दू और आज का सनातनी हिन्दू आधा आर्यसमाजी है।

लाला लाजपतराय की सम्मति

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यदि आर्यसमाज को "हिन्दू धर्म के इस अन्धकूप में गर्क होने से बचाना है तो उसे हिन्दू धर्म से पृथक् रखना होगा तभी उसका प्रगतिशील अस्तित्व और उज्ज्वल भविष्य सुरक्षित रह सकता है। इतना ही नहीं, हिन्दुओं की रक्षा और सुधार का भी कार्य आर्यसमाज तभी कर सकता है जब वह अपने 'रक्षित' से पृथक 'रक्षक्' बनकर रहे। कुएं में गिरे हुए व्यक्ति को हम स्वयं कुएं में गिरकर नहीं बचा सकते। स्वर्गीय लाला लाजपतराय तत्कालीन राजनैतिक कारणों से अपने अन्तिम दिनों में हिन्दू सभा और हिन्दू संगठन के कट्टर समर्थक बन गये थे, किन्तु उन्होंने लन्दन में प्रकाशित अपनी अंग्रेजी की पुस्तक **"दी आर्यसमाज"** में यही चेतावनी दी है :—

In the increasing friendliness with Hinduism lies the strength of the Arya Samaj but therein also lurks the danger of a lowering of the standards of reform. "We should not like the Aryasamaj to be lost in the vast sea of Hinduism. We should like it to exist for Hinduism first and for the rest of the world afterwards. But we should deplore its being merged in Hinduism or in any other 'ism.' Its independence is the charter of its existence and of its usefulness. Its members have no hesitation and will never have any in staking their all on the defence of Hindu community, but the strength of an advocate lies in his independence, inspite of identifying himself with the cause of his client."[1]

अर्थात् "हिन्दुओं के साथ बढ़ती हुई मित्रता में आर्यसमाज की शक्ति है किन्तु उसमें यह खतरा भी छुपा हुआ है कि इस निकटता के कारण सुधारों की गति मन्द हो सकती है इसलिए हम यह पसन्द नहीं करेंगे कि आर्यसमाज हिन्दू धर्म के विशाल समुद्र में खो जावे। हम पहले उसे हिन्दुओं के लिये बने रहने और बाद में बाकी के संसार के लिये बने रहने देना चाहेंगे, किन्तु हमें दुःख होगा यदि वह हिन्दूधर्म में

1. 'The Aryasamaj' (London) by L. Lajpat Rai, Page 277

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

विलीन हो जावे अथवा अन्य किसी वाद में। उसकी पृथक्ता ही उसके अस्तित्व और उपयोगिता का अधिकार पत्र है। उसके सदस्यों को न कभी इस बात में हिच-किचाहट थी और न होगी कि वे हिन्दू जाति की रक्षा के लिये अपना सर्वस्व दांव पर लगा दें। किन्तु एक वकील की शक्ति उसके पृथक् अस्तित्व में है चाहे वह अपने मुवक्किल के हित को अपना ही हित समझे।"

आर्यसमाज में और उसके बाहर के जो मित्र हिन्दू संगठन, हिन्दू संस्कृति और हिन्दू धर्म के नाम पर आर्यसमाज की पृथक्ता का विरोध करते हैं उनके लिये लाला जी जैसे हिन्दुत्व के प्रबल समर्थक के उपरोक्त तर्क से ज्यादा क्या अच्छा उत्तर दिया जा सकता है!

स्वतंत्र अस्तित्व क्यों?

आर्यसमाज के इस पृथक् और स्वतन्त्र अस्तित्व की आवश्यकता और उपादेयता आर्यसमाज और हिन्दूसमाज दोनों की दृष्टि से निर्विवाद प्रतीत होती है। किन्तु इस सम्बन्ध में कुछ अन्य शंकाओं का भी निराकरण जरूरी है।

हिन्दुओं की एकता का प्रश्न

आर्यसमाज हिन्दू धर्म और समाज का रक्षक और हिन्दू संगठन समर्थक रहा है और रहेगा, इसमें किसी आर्यसमाजी को आपत्ति नहीं हो सकती है। जैसा लाला लाजपतराय जी ने स्पष्ट कहा है। अतः स्वभावतः यह प्रश्न किया जा सकता है कि उसके पृथक् होने से क्या हिन्दुओं की एकता को आघात नहीं पहुंचेगा? इसका उत्तर "हिन्दू", "हिन्दू धर्म", 'हिन्दू संस्कृति' और 'हिन्दुत्व' इन शब्दों का सही अर्थ करने और समझने से मिल जावेगा। अभी तक हम व्यवहार में इन सबको एक दूसरे का पर्यायवाची समझते रहे हैं। और इसी भ्रम के कारण अनेक शंकाएं उत्पन्न होती हैं।

'हिन्दू' का अर्थ

'हिन्दू' शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में काफी विवाद रहा है। विदेशियों और विशेषकर मुसलमानों द्वारा उसका प्रयोग कायर, डरपोक, काफिर, जंगली, असभ्य और यहाँ तक कि चोर डाकू तक किया गया है। इसलिये प्रारम्भ में आर्य-समाज के अनुयायी अपने को हिन्दू कहलाना पसन्द नहीं करते थे। विशेषकर हिन्दुओं की सब कुछ सहने की दब्बू मनोवृत्ति और उनके अन्धविश्वासों और रीतिरिवाजों का विरोध करने वाले आर्यों के लिये एक नया नाम अर्थात् 'आर्य' स्वाभिमान और साहस का द्योतक था। हिन्दू कहलाने में उनको स्वभावतः हीनता अनुभव होती थी, किन्तु अब शनैः शनैः उनके इस दृष्टिकोण में परिवर्तन हो गया है और अब प्रायः यह स्वीकार किया जाता है कि केवल विदेशियों द्वारा हमारे नाम का अनर्थ करने के कारण हम इस ऐतिहासिक और सर्वत्र प्रचलित नाम को नहीं त्याग सकते? वास्तविक अर्थ सिन्धु का फारसी अपभ्रंश हिन्दू है और वह भी एक रूप में भौगोलिक

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

वस्तुस्थिति का द्योतक है। आज हम अपने देश को 'इंडिया' और उसके निवासियों को 'इंडियन' कहते हैं। किन्तु अंग्रेजी शब्द कोष में 'इंडियन' पिछड़े देशों के जंगली और असभ्य आदिम निवासियों के लिए उपयोग किया जाता है। इसीलिये आस्ट्रेलिया आदि के जंगलों में रहने वाली जातियों को इंडियन और अमेरिका के मूल निवासियों को रेड इंडियन कहा जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि ऋषि दयानन्द के अनुसार आर्य किसी नस्ल या जाति विशेष का नाम नहीं अपितु प्रत्येक श्रेष्ठ, सभ्य और सज्जन व्यक्ति का वाचक है। इस आधार पर हम हिन्दू या भारतीय के स्थान पर अपने को आर्य कह पाते तो शायद अफगानिस्तान और पर्शिया के समान मुसलमान, पारसी आदि भी इसे स्वीकार कर लेते, किन्तु अब इस नाम के सम्बन्ध में विवाद का समय और आवश्यकता नहीं है और न ऐसा करना व्यावहारिक प्रतीत होता है। हमारे देश का नाम हिन्दुस्तान यदि आपत्तिजनक नहीं है तो यहाँ के निवासियों का नाम हिन्दू होना भी आपत्तिजनक नहीं हो सकता। सर सैयद अहमद खां जैसे मुसलमान नेता तक इस अर्थ में अपने को हिन्दू कहने को तैयार थे।

इस प्रकार हिन्दू शब्द का भौगोलिक या सामाजिक अर्थ में उपयोग होने पर आर्यसमाजियों को भी हिन्दू बने रहने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए बशर्ते कि वह हिन्दू धर्म का पर्यायवाची न समझा जावे।

"हिन्दू" धर्म नहीं है—गांधी जी व सावरकर एकमत

जैसा हम पीछे देख आये हैं कि हिन्दू शब्द सिन्धु नदी से बना है और किसी धर्म विशेष का द्योतक नहीं है। ऐतिहासिक कारणों से हिन्दुस्तान के मुसलमान व ईसाई अपने को हिन्दु नहीं कहते यद्यपि वे भी हिन्दुस्तान निवासी है। उनके धर्मों का उदय हिन्दुस्तान से बाहर हुआ है। इसलिये प्रारम्भ से ही वे यहाँ के निवासी हिन्दुओं के धर्म को हिन्दुइज्म या हिन्दु धर्म कहते हैं। 'हिन्दू" जैसे एक भौगोलिक शब्द का अर्थ जाति या संस्कृति के रूप में तो समझ में आ सकता है क्योंकि एक देश से रहने वालों की एक जाति (Community) और उसका इतिहास साहित्य, कला आदि एक हो सकता है। और ऐसा होना स्वाभाविक है, किन्तु उनके धार्मिक विश्वास भी एक हों यह जरूरी नहीं है। इंग्लिश, जर्मन, अमेरिकन, फ्रेन्च आदि भौगोलिक शब्द होने के अतिरिक्त एक जाति तथा भाषा और संस्कृति के भी पर्यायवाची बन गये हैं। किन्तु इनका कोई इंग्लिश, जर्मन या अमेरिकन धर्म नहीं है। वहाँ के निवासियों के धर्म उनके धर्म के संस्थापकों के नाम पर क्रिश्चियनिटी, यहूदी अथवा इस्लाम आदि हैं।

इस तरह धार्मिक दृष्टि से हिन्दु धर्म की कोई सार्थक परिभाषा नहीं है न की जा सकती है।

महात्मा गांधी[1] जैसे प्रसिद्ध हिन्दू तथा हिन्दु संगठन के आधुनिक विचारक

1. "Hinduism is not a Codified religion" Hindu Dharma by Gandhiji Page 24

"It is the good fortune or misfortune of Hinduism that it has no official creed" Gandhiji, Young India 24-4-1924

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

श्री दामोदर सावरकर[2] और यहाँ तक कि हिन्दु राष्ट्र की विचारधारा के समर्थक जनसंघ और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रमुख नेता श्री अटलबिहारी बाजपेयी[3] सब इस बात में सहमत हैं कि हिन्दु किसी धर्म विशेष का नाम नहीं है।

महात्मा गांधी और सावरकर एकमत

महात्मा गांधी इसीलिये अपने को सनातनी हिन्दू कहते थे। यही कारण है कि हम हिन्दू धर्म की कोई ऐसी व्याख्या नहीं कर सकते जिसमें उन सबका समावेश हो जो अपने को हिन्दू कहते हैं, दूसरी ओर ईसाई और इस्लाम आदि धर्मों की निश्चित परिभाषा की जा सकती है, क्योंकि वे एक संगठित धर्म हैं, ऐसी स्थिति में आर्यसमाज जिस वैदिक धर्म को मानता है, उसका समावेश हिन्दू धर्म में करना असंगत है। जैसा हम आगे बतायेंगे, आर्यसमाज धार्मिक दृष्टि से हिन्दू न होकर भी भौगोलिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और सामाजिक दृष्टि से हिन्दुत्व का अंग है।

हिन्दू एकता

वस्तुत: इस प्रकार हम सिख, जैन और बौद्धों को भी हिन्दु समाज में सम्मिलित करके हिन्दुओं को वास्तविक अर्थों में संगठित और शक्तिशाली बना सकते हैं जैसी सावरकर की मान्यता थी। यदि इसके विपरीत हमने यह आग्रह किया कि ये सब धार्मिक दृष्टि से भी हिन्दु धर्म के अंग या सम्प्रदाय मात्र बनकर रहें तो हम उन्हें अपने आपको हिन्दु कहने के लिये विवश तो दूर राजी भी नहीं कर सकेंगे। दूसरे शब्दों में यदि हम यह स्वीकार करते हैं कि धार्मिक दृष्टि से वे सब पृथक् धर्म हैं तो उन्हें अपने आपको सामाजिक दृष्टि से हिन्दु कहलाने में आपत्ति नहीं होगी। और इस प्रकार हिन्दुओं के विभक्त होने अथवा अल्प संख्यक हो जाने का भय नहीं रहेगा। वैसे भी यह कहा जाता है कि धार्मिक सहिष्णुता और उदारता हिन्दु धर्म की विशेषता है। यदि इस्लाम और ईसाइयत के प्रति हिन्दू इस प्रकार की उदारता बरत सकते हैं जो धार्मिक ही नहीं बल्कि सांस्कृतिक और सामाजिक दृष्टि से भी अहिन्दु हैं तो अपने ही सांस्कृतिक और सामाजिक हिन्दु बन्धुओं को यह धार्मिक स्वतन्त्रता देने में उन्हें क्यों आपत्ति होनी चाहिये? जिसे हिन्दू धर्म कहा जाता है उसमें स्वयं इतने परस्परविरोधी धार्मिक विश्वास और मान्यताएं हैं कि हिन्दुओं की धार्मिक एकता केवल काल्पनिक आदर्श है। पोप जैसा कोई एक सर्वोच्च धार्मिक अधिपति अथवा बाइबल या कुरान जैसी कोई एकमात्र धार्मिक पुस्तक न होने से हिन्दु धर्म में किसी प्रकार के अनुशासन, फतवे अथवा धर्मादेश का भी प्रश्न नहीं उठता।

आर्यसमाज का पृथक् "धर्म"

ज्यादा से ज्यादा हम महात्मा गांधी के शब्दों में यह कह सकते हैं कि जिसे हम हिन्दु धर्म कहते हैं वह वास्तव में सनातनी या पौराणिक धर्म है, जिसके शैव,

2. हिन्दुत्व
3. "मैं हिन्दु क्यों हूं',
Organiser dated 28-12-74, Illustrated weekly 24-11-74

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

शाक्त, वैष्णव आदि सम्प्रदाय (Sects) है। जैसे मुसलमानों में शिया, सुन्नी और ईसाइयों में कैथोलिक, प्रोटेस्टेंण्ट आदि हैं। किन्तु आर्यसमाज को सनातनी या पौराणिक धर्म का अंग या सम्प्रदाय भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसका वैदिक धर्म प्रायः सब मौलिक तथा आधारभूत धार्मिक मान्यताओं में पौराणिक धर्म से सर्वथा भिन्न है। हिन्दुओं से उसकी समानता मुख्यतः सांस्कृतिक और सामाजिक विषयों में ही हैं। इसलिये आर्यसमाज एक पृथक् धर्म है, जैसा हम आगे सिद्ध करने का प्रयत्न करेंगे। ईसाई, मुसलमानों के शिया, सुन्नी या प्रोटेस्टेंट या कैथोलिक सम्प्रदाय मौलिक बातों में ईसाइयत और इस्लाम की मान्यताएं स्वीकार करते हैं, जैसा मुहम्मद साहब का पैगम्बर होना और ईसामसीह का ईश्वर का पुत्र होना। कुरान और बाईबल के सम्बन्ध में भी ये सारे सम्प्रदाय एकमत हैं। दूसरी ओर ऋषि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित वैदिक धर्म की वेद और ईश्वर आदि सम्बन्धी मान्यताएं पौराणिक हिन्दु धर्म से ऐसी कोई समानता नहीं रखती।

'हिन्दू' और 'हिन्दू धर्म' एक नहीं

सावरकर ने अपनी विद्वत्तापूर्ण तर्क शैली से अपनी 'हिन्दुत्व' नामक प्रसिद्ध पुस्तक में 'हिन्दु', 'हिन्दु धर्म', 'हिन्दूवाद' और 'हिन्दुत्व' इन सब शब्दों के अन्तर का बड़ा सुन्दर विवेचन किया है। हिन्दुत्व की उनकी प्रसिद्ध परिभाषा सर्वथा भौगोलिक हैं, धार्मिक नहीं, अर्थात् :—

"आसिन्धु सिन्धुपर्यन्ता यस्य भारत भूमिका,
पितृभूः पुण्यभूश्चैव स वै हिन्दुरिति स्मृतः।"

यानी जो कोई व्यक्ति सिन्धु नदी से आसिन्धु समुद्र तक सारे भारत को अपनी पवित्र भूमि और पितरों की भूमि समझता है वह हिन्दु है।

वे स्पष्ट लिखते हैं "हिन्दु नाम अन्तर्राष्ट्रीय नाम हो गया है, वह हमारे किसी धर्म, मत, पन्थ या दार्शनिक विचार शैली का नाम नहीं है।"[१] हिन्दुत्व और हिन्दुवाद (Hinduism) में क्या अन्तर है यह बताते हुए उनका कहना है कि इज्म (वाद) का प्रयोग प्रायः वहीं होता है जहाँ धर्म व अध्यात्म सम्बन्धी विचार श्रृंखला को प्रकट करना होता है।"[२] "हिन्दुवाद पर विश्वास न रखकर भी हिन्दुस्तान निवासी कोई ऐसा व्यक्ति जो हिन्दू संस्कृति पर आस्था रखता है हिन्दू हो सकता हैं, हिन्दुओं के आप्तग्रन्थ, वेदों को ईश्वरीय ज्ञान न मानने वाले जैन भाई भी हिन्दु कहलाते हैं।"[३] पृष्ठ ८३ पर 'हिन्दू' शब्द का जातिवाचक अर्थ उन्होंने इन शब्दों में किया है, "हिन्दू शब्द के अतिरिक्त कोई और ऐसा शब्द नहीं है जो हम लोगों की जाति एकता को सर्वांगीण रूप में प्रकट कर सके। हममें कुछ आर्य थे, कुछ अनार्य परन्तु अय्यर, नायर इत्यादि हम सब हिन्दु थे और हमारा खून एक था, आज भी हम सब इसलिये हिन्दु है कि हमारा रक्त एक है। हम एक देशभक्त बोहरा या

१. हिन्दुत्व : पृष्ठ १९
२. हिन्दुत्व पृष्ठ ४   ३. हिन्दुत्व पृष्ठ ८३

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

खोजा (मुसलमान) को भी हिन्दु पद देने से इन्कार नहीं कर सकते।[1] प्रायः लोग हिन्दुवाद का प्रयोग वहाँ करते हैं जहाँ उनका अभिप्राय हिन्दु धर्म से होता है किन्तु यदि कोई नाम भ्रांति पैदा करने के अतिरिक्त उस जाति, धर्म या देश के लिये हानिकारक भी हो तो उसे हटा देना चाहिए। हिन्दुओं की बहुसंख्या के धर्म का नाम हिन्दु धर्म नहीं हो सकता। उसे तो हम "श्रुति, स्मृति, पुराणोक्त धर्म" अथवा "सनातन धर्म" ही कह सकते है।[2] "इसलिए हिन्दु धर्म और हिन्दु जाति दोनों का एक ही अर्थ करना गलत है। इस नादानी की बात से हिन्दु जाति के कुछ अंगों में जैसे सिक्खों, जैनियों और यहाँ तक कि देशभक्त और प्रगतिशील आर्यसमाजियों में भी हिन्दु धर्म के प्रति मनोमालिन्य व पृथक्ता पैदा हो गई है।"[3]

गांधीजी तथा तिलक की मान्यता

सावरकर ने स्वर्गीय लोकमान्य तिलक की हिन्दु धर्म की परिभाषा उद्धृत की है, अर्थात्

प्रामाण्य बुद्धिवेदेश्षु साधनानामनेकता।
उपास्यानामनियमः एतद्धर्मस्य लक्षणम ॥

अर्थात् वेदों को जो प्रमाण माने किन्तु भक्ति के अनेक साधन माने और जिसकी भक्ति की जाय वह निश्चित न हो यह हिन्दु धर्म का लक्षण है। इस परिभाषा की समालोचना करते हुए सावरकर ने लिखा है कि यह परिभाषा हिन्दुत्व की नहीं किन्तु हिन्दु धर्म की है, जिसके अनुसार स्वयं तिलक के अनुसार आर्यसमाजी हिन्दु नहीं कहे जा सकते। सावरकर आगे लिखते हैं कि लोकमान्य तिलक की यह परिभाषा "केवल सनातन धर्म" अथवा "श्रुति, स्मृति, पुराणोक्त धर्म" की ही हो सकती है, और इस प्रकार गलती से सनातन धर्म ही हिन्दु धर्म समझा जावेगा।[4] अन्त में अपने विवेचन का निष्कर्ष निकालते हुए वे कहते हैं "हमने यह सिद्ध कर दिया है कि हिन्दुत्व और हिन्दु धर्म भिन्न चीजें हैं तथा हिन्दुवाद भी भिन्न है। हिन्दुत्व को हिन्दु धर्म मानना और दोनों को सनातन धर्म से एकीकरण करना भारी भूल है। यही भूल सनातनियों से अन्य हिन्दुओं को हिन्दु कहलाने में बाधक हो रही है।[5] इस भूल को मिटाने की सलाह देते हुए उन्होंने सिक्खों का उदाहरण देकर यह बताया है कि हिन्दु धर्म के स्थान में हिन्दुत्व के आधार पर ही सिक्ख हिन्दु हैं, उनका धर्म सिक्ख है किन्तु राष्ट्र, जाति और संस्कृति से हम सब एक अर्थात् हिन्दु हैं।[6] इस प्रकार अन्त में सावरकर सिखों, जैनों और आर्यसमाजियों को हिन्दु धर्म से पृथक् धर्म होने का अधिकार स्वीकार करते हुए उन्हें हिन्दु जाति के इस बने बनाये संघ को बनाये रखने का आह्वान करते हैं।

१. हिन्दुत्व पृष्ठ ६२ २. हिन्दुत्व पृष्ठ १०६ ३. हिन्दुत्व पृष्ठ १०७
४. हिन्दुत्व पृष्ठ ११३ व ११४ ५. हिन्दुत्व पृष्ठ १२७
६. हिन्दुत्व पृष्ठ १३१

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

इस सारे विवेचन के बाद आर्यसमाज के एक पृथक् धर्म होने तथा उसके उपरांत भी हिन्दु बने रहने का यह मन्तव्य न केवल सम्भव बल्कि उचित और आवश्यक है, यह निर्विवाद हो जाता है।

हिन्दु राष्ट्रवाद से भ्रम

वीर सावरकर के हिन्दु, हिन्दुत्व और हिन्दु धर्म के भिन्न अर्थों के युक्तियुक्त विवेचन से सहमत होते हुए भी मैं अत्यन्त नम्रतापूर्वक उनकी हिन्दु राष्ट्र की कल्पना से असहमत हूँ। राष्ट्र का अन्तर्राष्ट्रीय कानून में एक विशेष अर्थ है, जो राज्य का पर्यायवाची है, प्रत्येक राष्ट्र का अपना पृथक् राज्य स्थापित करने का अधिकार है जिसे Right of self-determination "आत्म निर्णय का अधिकार" कहते हैं, इस प्रकार हिन्दुओं की एक जाति तथा संस्कृति की बात तो युक्तियुक्त है, किन्तु उनका अलग राष्ट्र होने का अर्थ यह है कि हमारे देश में हिन्दुओं का ही राज्य है या होना चाहिए क्योंकि तभी वह हिन्दु राष्ट्र हो सकता है। यदि भारत के सब निवासी अपने को हिन्दुस्तान के नागरिक समझकर हिन्दु कहलाना स्वीकार करते तो इस अर्थ में हिन्दु राष्ट्र की कल्पना सम्भव थी। किन्तु जैसा स्वयं सावरकर स्वीकार करते हैं कि जिन्हें अभी तक हिन्दु कहा जाता है वे सब भी अपने आपको धार्मिक अर्थ में हिन्दु कहना पसन्द नहीं करते और उन्हें हिन्दु अथवा हिन्दुत्व का एक विशेष अर्थ करके ही हिन्दु कहलाने पर राजी किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में भारत के अहिन्दु निवासी मुसलमान, ईसाई, पारसी आदि से यह अपेक्षा करना व्यर्थ है कि वे हिन्दु राष्ट्र की बात को स्वीकार करें क्योंकि वे केवल धर्म के आधार पर ही नहीं बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भी हिन्दुत्व की परिभाषा में सम्मिलित नहीं किये जा सकते। ऐसी स्थिति में युक्तिसंगत और उपयुक्त वर्गीकरण यही हो सकता है कि हम भारत को एक राष्ट्र मानकर राष्ट्रीय दृष्टि से बिना धर्म जाति या संस्कृति और भाषा के भेद के अपने को भारतीय समझें, जिसमें हिन्दु, मुसलमान, ईसाई आदि सबके समान नागरिक अधिकार और कर्तव्य हों। इसके बाद बहुसंख्यक हिन्दुओं का एक सामाजिक तथा सांस्कृतिक वर्ग या संघ माना जा सकता है और चूंकि उनकी इतनी बड़ी संख्या है इसलिये यह उनका विशेष उत्तरदायित्व है कि उनके जात पांत, छूआछूत आदि विभिन्नताओं के कारण देश की राष्ट्रीय एकता को हानि न होने पाये। इतने बड़े बहुमत का स्वभावतः यह अधिकार और कर्तव्य भी है कि देश के भविष्य और सुरक्षा के लिये वे विशेष प्रयत्न करें और अल्पमत के नागरिकों के अधिकारों का सम्मान करके उन्हें सन्तुष्ट रखें।

वर्गीकरण के तीसरे स्तर में हमारे देश के भिन्न धर्मों के नागरिकों का समावेश है, जिनमें बहुसंख्यक सनातन धर्म तथा अल्पसंख्यक मुसलमान, ईसाई, सिख, जैन, बौद्ध तथा आर्यसमाजी सम्मिलित हैं। धर्मनिरपेक्ष राज्य के हमारे आदर्श के अनुसार इन सबको जहाँ धार्मिक मामलों में स्वतन्त्रता है और होनी चाहिए वहाँ सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक आदि धर्म के क्षेत्र से बाहर के विषयों में उन्हें देश के सब अन्य नागरिकों के समान राज्य के कानून और नियमों का बिना किसी अपवाद के पालन करना अपना कर्तव्य समझना चाहिए।

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

वस्तुतः जहाँ अनेक धर्म हों वहाँ सब धर्मों के प्रति उदारता और समानता तथा आदर का व्यवहार तभी सम्भव है जब धर्मों का क्षेत्र केवल आध्यात्मिक विषयों तक सीमित हो और अन्य सब सैक्यूलर (धर्मनिरपेक्ष) मामलों में देश के सब नागरिकों के कर्तव्य और अधिकार समान हों।

Give unto God what belongs to God
Give unto Ceaser what belongs to Ceaser

इस आदर्श का यही अर्थ है कि जो ईश्वर का है वह ईश्वर को अर्पण करो और जो राज्य का है वह राज्य को दो।

आर्यसमाज और हिन्दू धर्म में अन्तर

धार्मिक दृष्टि से आर्यसमाज हिन्दुओं से पृथक् धर्म है और होना चाहिए, इस स्थापना का आधार जिन तथ्यों और युक्तियों पर है उनमें से मुख्य निम्न प्रकार हैं :—

ऋषि दयानन्द ने जिस वैदिक धर्म का प्रतिपादन किया है उसके संगठित स्वरूप का नाम 'आर्यसमाज' है। इसलिये संवैधानिक भाषा में उसे हम आर्य धर्म या आर्यसमाज इसी नाम से सम्बोधित करना उपयुक्त समझते हैं। यह इसलिये भी युक्तिसंगत है कि वेद के नाम पर सनातनी या पौराणिक हिन्दू भी अपने धर्म को वैदिक कह सकते हैं और कुछ कहते भी हैं इसलिये आर्य धर्म ज्यादा उपयुक्त है।

ऋषि दयानन्द की मान्यता

१. सत्यार्थ प्रकाश

स्वामी जी के किसी ग्रन्थ में उनके अनुयायियों के लिये 'हिन्दु' शब्द का प्रयोग नहीं है और न ही उनके द्वारा प्रतिपादित धर्म को उन्होंने कहीं 'हिन्दू धर्म' कहा है। स्वामीजी ने जिस वैदिक धर्म का पुनरुद्वार किया है उसका मुख्य आधार वेद का ईश्वरीय ज्ञान और एकेश्वरवाद है, इन दोनों का विवेचन करते हुए उन्होंने सत्यार्थ प्रकाश के सातवें सम्मुल्लास के अन्त में स्पष्ट आदेश दिया है कि "जो कोई पूछे कि तुम्हारा क्या मत है, तो यही उत्तर देना कि हमारा मत वेद है। अर्थात् जो कुछ वेदों में कहा है हम उसी को मानते हैं।"

२. स्वामी जी का स्पष्ट आदेश

इतना ही नहीं स्वामीजी से जब मास्टर दयारामजी मंत्री, आर्यसमाज;

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

मुलतान ने पूछा कि आर्यसमाजियों को जनगणना में अपने को क्या लिखाना चाहिये तो आगरे से अपने तारीख ३१ दिसम्बर १८८० के पत्र में उन्होंने उत्तर दिया कि 'मर्दु मशुमारी के नक्शे में' 'मजहब और फिरकेमजहबी' के कालम में 'वैदिक' तथा असल कौम के कालम में 'आर्य' लिखें। स्वामीजी ने साथ ही यह भी आदेश दिया "यह सब समाजों तथा पंजाब भर में इसी प्रकार लिख भेजें।"[1] तदनुसार दयाराम जी ने सब समाजों में इसकी नकलें भेज दीं ऐसा उन्होंने स्वयं लिखा है।

३. संविधान

आर्यसमाज के संविधान, प्रवेश पत्र तथा उपनियमों में कहीं हिन्दु नहीं है, सब जगह आर्य या आर्य सभासद कहा गया है।

४. जनगणना में आर्यों की पृथक् गिनती

ऋषि के उपरोक्त आदेश के परिणामस्वरूप सन् १९०१, १९११, १९२१ तथा १९३१ तक की सारी दस वर्षीय मर्दु मशुमारी में उत्तरप्रदेश, पंजाब, बिहार, मध्यप्रदेश, राजस्थान आदि जहाँ जहाँ आर्यसमाजी थे वहाँ धर्म के कालम में उनकी आर्य नाम से पृथक् गिनती की जाती रही। इतना ही नहीं, इन रिपोर्टों में तत्कालीन जनगणना अधिकारियों ने यह भी उल्लेख किया है कि आर्यसमाजी धर्म की दृष्टि से हिन्दुओं से किस प्रकार भिन्न हैं।

मिस्टर ब्लण्ट की राय

श्री ब्लण्ट आई. सी. एस. ने १९११ की उत्तर प्रदेश की जनगणना की रिपोर्ट के पृष्ट १३८ पर लिखा है—Orthodox Hinduism is too apt to lead to irreligion, a religion which given ritual in place of a creed and unintelligible mantras in place of religious instruction, is bound to have such a result. And a thoughtful man will often be driven to turn to other creeds. Amid all the religions, such a man has the choice of four. Brahmoism is nothing but a limp eclecticism. It has discarded the Vedas and put nothing in their place. It has adopted a belief here and a doctrine there and when doubt arises leaves the individual to decide the doubt for himself. Such a religion has little vitality······Christianity and Islam are utterly irreconcilable with Hinduism in any shape or form········But Aryaism is different········It offers a bold, straightforward monotheism········ It bids him discard, all those superstitions which he most specially dislikes. It bases the order and its whole teaching on the Vedas which he reverences deeply though he probably reverences nothing else. It gives him a creed that he can believe, Ceremonies that he

१. कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित ऋषि दयानन्द के पत्रों का संग्रह पृष्ठ २६७।

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

can himself carry out, and a hope of salvation, if his deeds are good. At the same time, he need not break completely with the Hindu social system......"

अर्थात् "सनातनी हिन्दू धर्म अधार्मिक बनने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देता है। जो धर्म विश्वास के बदले कर्मकाण्ड और धर्म की शिक्षाओं के बदले समझ में न आने वाले मन्त्र देता है उसका ऐसा परिणाम स्वाभाविक है। कोई भी विचारशील व्यक्ति ऐसी स्थिति में दूसरे धर्मों की ओर आकर्षित हुए बिना नहीं रहेगा। उसके लिये इस प्रकार के दूसरे चार धर्म हैं। 'ब्रह्म समाज' केवल लंगड़ी खिचड़ी है। उसने वेदों को तो त्याग दिया किन्तु उसके स्थान में और कोई एक धर्म ग्रन्थ नहीं रखा। उसने एक विश्वास यहाँ से और दूसरा विश्वास कहीं और से स्वीकार किया किन्तु जब उनके सम्बन्ध में उसके अनुयायी को सन्देह उत्पन्न हो तो उसका निराकरण उसे ही करने के लिये छोड़ दिया जाता है। ऐसे धर्म में कोई विशेष शक्ति नहीं है। क्रिश्चियैनिटी और इस्लाम हिन्दू धर्म से शक्ल सूरत सब में सर्वथा भिन्न हैं। किन्तु आर्यसमाज की बात दूसरी है। उसका संगठन और शिक्षाएं एक साहसपूर्ण और स्पष्ट एकेश्वरवाद पर आधारित हैं। वह अपने अनुयायियों को उन सब अन्धविश्वासों को त्यागने को कहता है जिन्हें वे लोग विशेष रूप से नापसन्द करते हैं। वह उन्हें वेद को स्वीकार करने और उसके अतिरिक्त किसी और को मान्यता न देने को कहता है। आर्यसमाज उसे ऐसे धार्मिक विश्वास देता है जिसमें व्यक्ति विश्वास कर सकता है और ऐसे संस्कार करने को कहता है जिसे वह व्यक्ति स्वयं कर सकता है और साथ ही यदि उसके कर्म अच्छे हों तो उसे मोक्ष की आशा भी है। इतना सब होने पर भी उस व्यक्ति के लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह हिन्दु समाज व्यवस्था से अपने आपको सर्वथा अलग कर ले।"

आर्यसमाज का एक भिन्न और पृथक् धर्म होने का इससे सुन्दर विवेचन और क्या हो सकता है ? किन्तु साथ ही श्री ब्लंट ने यह भी स्वीकार किया है कि हिन्दु धर्म और हिन्दु समाज दो पृथक् चीजें हैं और आर्यसमाज धार्मिक दृष्टि से हिन्दू न होकर भी सामाजिक दृष्टि से हिन्दु समाज से पृथक् नहीं होना चाहता। ब्लंट के विवेचन से दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह सिद्ध होती है कि आर्यसमाज हिन्दु धर्म का एक सम्प्रदाय या सैक्ट नहीं है। अपितु इस्लाम और ईसाई धर्म के समान एक पृथक् धर्म है।

गांधीजी की मान्यता का हिन्दू धर्म

'हिन्दु धर्म' नामक अंग्रेजी की पुस्तक में महात्मा गांधी ने अपने को सनातन हिन्दु धर्म का अनुयायी बताते हुए उसकी निम्न व्याख्या की है—

१. वेद, उपनिषद्, पुराण आदि सब हिन्दु धर्म ग्रन्थों तथा अवतार और पुनर्जन्म में विश्वास।

२. वर्णाश्रम धर्म में विश्वास (उसके वैदिक अर्थ में; वर्तमान प्रचलित अर्थ में नहीं)

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

३. व्यापक अर्थ में गोरक्षा में विश्वास
४. मूर्तिपूजा में अविश्वास न करना

इस व्याख्या के अनुसार आर्यसमाज स्पष्ट रूप से हिन्दु धर्म से पृथक् है।

अब जनगणना में हिन्दू क्यों ?

बाद की जनगणना में आर्यों को पृथक् नहीं बताया गया है और उसका कारण सर्वथा राजनैतिक था। देश में खिलाफत आन्दोलन आदि कारणों के परिणाम-स्वरूप हिन्दु-मुस्लिम संघर्ष और दंगे प्रारम्भ हो गये। अंग्रेजों ने अपने राजनैतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिये मुसलमानों को विशेष अधिकारों का लालच देकर इस विरोध को और बढ़ाने का प्रयत्न किया। चूंकि उन्हें ये सब अधिकार हिन्दुओं के न्याय-पूर्ण अधिकारों में से काटकर दिये जाने थे इसलिये उसके विरुद्ध हिन्दु नेताओं ने संगठित आवाज उठाने के लिये हिन्दू सभा की स्थापना की और देश में हिन्दू संगठन के नाम पर और हिन्दू-मुसलमान पृथक् चुनावों के संदर्भ में आर्यसमाज को हिन्दुओं से पृथक् न रहने की अपील की गई।

जनगणना के समय आर्यसमाज की अधिकृत संस्थाओं ने यह प्रयत्न किया कि उन्हें हिन्दू के साथ आर्य भी लिखा जावे। किन्तु विदेशी सरकार ने जानबूझकर इस मांग को स्वीकार नहीं किया। अतः आर्यों के सामने यह कठिन दुविधा खड़ी हो गई कि यदि वे अपने को हिन्दू लिखाते हैं तो उन्हें हिन्दुओं से पृथक् रहने की अपनी पुरानी नीति को छोड़ना पड़ता है, और यदि आर्य लिखाते हैं तो चुनावों में हिन्दुओं की संख्या कम होने के भय से हिन्दु संगठन समर्थक उन्हें हिन्दु विरोधी कहते हैं।

तब और अब

उस समय की भिन्न परिस्थिति में सम्भवतः यह उचित समझा गया कि यदि उन्हें इन दो में से एक चुनना हो तो विवश होकर अपने को हिन्दु कहने का विकल्प स्वीकार करें। उसका एक दीर्घकालीन दुष्परिणाम यह हुआ कि उसके बाद से आर्यों की पृथक् जनगणना होना समाप्त हो गया, इसका अर्थ यह नहीं है कि केवल जनगणना में सामयिक परिवर्तन के कारण आर्यसमाज हिन्दु धर्म में विलीन हो गया। किन्तु स्वाधीनता के बाद अब आर्यों को अगली जनगणना में अपने को हिन्दुओं से पृथक् पुनः आर्य लिखाने में किसी प्रकार का संकोच नहीं होना चाहिए, विशेषकर जब जिन परिस्थितियों में वे हिन्दुओं में गिने गये थे, वह स्थिति अब समाप्त हो गई है।

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

मेरा यह निष्कर्ष एक अंग्रेज जनगणना अधिकारी द्वारा दिये गये स्पष्टीकरण से भी सिद्ध होता है। श्री मैक्लेगन ने लिखा है कि "निष्ठावान् आर्यसमाजियों को यह पसन्द नहीं है कि उन्हें हिन्दुओं में गिना जावे। उनकी यह आपत्ति इस बात पर आधारित थी और अब भी है कि हिन्दू शब्द विदेशी और मुस्लिम काल में हीनता का द्योतक था। किन्तु उन्हें यह बताया गया कि जनगणना में उन सब धर्मों और सामाजिक समूहों को हिन्दू शब्द द्वारा ही निर्देशित किया जाना तय किया गया है जो हिन्दू कहे जाते हैं। किन्तु आर्यसमाजी यह चाहते थे कि उन्हें धार्मिक दृष्टि से हिन्दुओं में सम्मिलित न किया जावे किन्तु वे हिन्दु समाज से पृथक् भी नहीं रहना चाहते थे। ऐसी स्थिति में इसके सिवाय कोई और चारा नहीं था कि आर्यसमाज को हिन्दुओं का एक सैक्ट या सम्प्रदाय लिखा जावे। यद्यपि आर्यसमाजी अपने धर्म को एक सैक्ट या सम्प्रदाय नहीं मानते थे।"[1]

वस्तुत: 'सैक्ट' के कालम में भी उनका 'वैदिक धर्म' लिखा गया, जिसका अर्थ सैक्ट नहीं अपितु 'रिलीजन' होता है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि आर्यसमाज प्रारम्भ से ही अपने को केवल सामाजिक दृष्टि से हिन्दु मानता रहा है, और अब इसी स्थिति को अधिक स्पष्ट और निश्चित करने की आवश्यकता है।

हिन्दुओं द्वारा भी विरोध

यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि प्रारम्भ में सनातनी हिन्दू भी आर्यों को हिन्दु नहीं मानते थे, किन्तु केवल अपने राजनैतिक लाभ के लिये उन्होंने आर्यों को हिन्दुओं में सम्मिलित किया। यह कटु सच्चाई श्री ब्लन्ट ने इन शब्दो में व्यक्त की है—"Stricter members of orthodox Hinduism would never regard Aryas as true Hindus. The orthodox Hindus were however willing enough to claim the Aryas as a Hindu sect when it happens to suit their political purpose."

जैसा सावरकर ने कहा है लोकमान्य तिलक तक आर्यसमाजियों को धार्मिक दृष्टि से हिन्दु नहीं मानते थे, हिन्दु संगठन के दौर में आर्यों ने केवल हिन्दु हितों की रक्षा के लिए हिन्दुओं में अपनी गिनती कराना स्वीकार किया था क्योंकि उन दिनों चुनाव तथा प्रतिनिधित्व हिन्दू मुसलमान आदि पृथक् जातीय आधार पर होते थे अतः आर्यसमाज बहुसंख्यक हिन्दू मतों को कम करके उन्हें हानि नहीं पहुँचाना चाहता था। अंग्रेजों द्वारा उकसाए गये हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष की दुविधा में आर्य समाज को भी समझौते करने पड़े।

भाई परमानन्द जी

हिन्दु संगठन की हवा में आर्यसमाज के अनेक प्रतिष्ठित नेता भी किस प्रकार बह गये, इसका उदाहरण भाई परमानन्द जी के विचार परिवर्तन से मिलता हैं, "आर्यसमाज और कांग्रेस" नामक उस समय प्रकाशित अपनी पुस्तक में उन्होंने हिन्दु

1. The Arya Samaj by Lajpat Rai, P. 274.

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

सगठन को अपना "नवीन आर्य धर्म" तक कहा। वे लिखते हैं, 'इस नवीन धर्म का एक ही सिद्धान्त है और वह यह कि हिन्दु जाति की रक्षा और बचाव के लिये सब प्रकार के भेद को परे रख दिया जावे,[1] मुक्ति का राजद्वार हिन्दू संगठन ही है, यदि हम स्वामी दयानन्द की पुस्तकों द्वारा आर्यसमाज का अनुमान लगावें तो आर्यसमाज एक नया मजहब मालूम होता है।[2] बहुत से आर्यसमाजी भाई घमण्ड के साथ कहते हैं कि वे हिन्दु नहीं हैं।[3] भाई परमानन्द जी न केवल एक अत्यन्त योग्य और पुराने आर्यसमाजी थे बल्कि उन्होंने देश की स्वाधीनता के लिये बड़े कष्ट सहे, उन्हें राज द्रोह में अंग्रेजों ने फांसी की सजा दी, जो बाद में जन्म कैद में बदल दी गई। इसलिये यह तो निःसन्देह है कि ये विचार परिवर्तन उन्होंने किसी राजनैतिक स्वार्थ के कारण नहीं किये बल्कि आर्यसमाज हिन्दुओं का रक्षक है, समाज की इस परम्परा को ध्यान में रखकर उनकी तत्कालीन मान्यता ऐसी बन गई, जो अब अनावश्यक सिद्ध हो गई है। चाहे जो हो जैसा भाई जी ने स्वयं लिखा है प्रारम्भ से ही आर्य-समाज धार्मिक दृष्टि से एक पृथक् मजहब या धर्म रहा है। लाला मूलराज तथा कुछ अन्य आर्यसमाजी नेता आर्यसमाज को उसके दस नियमों के आधार पर केवल एक सोसायटी या समाज कहने लगे थे, किन्तु इसे आर्यसमाज ने स्वीकार नहीं किया और इस प्रकार के भ्रम को दूर करने के लिये अब यह निश्चित रूप से स्वीकार किया गया है कि आर्यसमाज का सदस्य होने के लिये दस नियमों के अतिरिक्त ऋषि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित धार्मिक सिद्धान्त भी स्वीकार करना आवश्यक है।

आर्य जगत् के सामने इसीलिये यह एक गम्भीर प्रश्न है कि भविष्य में इस दुविधाजनक स्थिति में आर्यसमाज की रक्षा कैसे की जावे। उसका एक ही उत्तर हो सकता है। हिन्दु शब्द के भौगोलिक और सामाजिक अर्थ में आर्यसमाज हिन्दु है और रहेगा किन्तु धर्म की दृष्टि से वह हिन्दु धर्म से (जिसका वास्तविक अर्थ सनातन या पौराणिक धर्म है) पृथक् है और रहना चाहिए।

अगली जनगणना में क्या करें ?

अगली जनगणना से पहले हमें सरकार को यह वस्तु स्थिति स्वीकार करने के लिये बाध्य करना चाहिए कि हिन्दु शब्द का उपयोग केवल सामाजिक और सांस्कृतिक आधार पर किया जावे, ताकि उसमें आर्यसमाजी, सिख, जैन और बौद्ध भी सम्मिलित किये जा सकें और धर्म के वर्गीकरण में हिन्दू, ईसाई, मुसलमान, जैन व सिख आदि की गणना की जा सके। यदि आर्यसमाजी अपने को हिन्दु कहें तो उसका धार्मिक अस्तित्व समाप्त होता है और अपने को अहिन्दु माने तो हिन्दु समाज और संस्कृति से उन्हें पृथक् होना पड़ता है। इसलिये प्रत्येक आर्यसमाजी राष्ट्रीय दृष्टि से भारतीय, सामाजिक और जातीय दृष्टि से हिन्दू और धार्मिक दृष्टि से आर्य होगा। यही एक सिद्धांत ऐसा है जिसके द्वारा इस कठिन दुविधा का समाधान हो सकता है।

---

१. आर्यसमाज और कांग्रेस पृष्ठ ६०, २. पृष्ठ ७ ३. पृष्ठ ४२

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

आर्यसमाज का व्यापक स्वरूप

आर्यसमाज का जन्म केवल हिन्दुओं की रक्षा के लिये नहीं हुआ है, उसका लक्ष्य "संसार का उपकार करना है।" जैसा उसके छठे नियम में लिखा है। इसी प्रकार 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' अर्थात् सारे संसार को आर्य बनाने का उत्तरदायित्व उसे सौंपा गया है। अपने इस महान् लक्ष्य से भटक कर वह स्वयं हिन्दुओं का एक सम्प्रदाय या फिरका बनकर अपने अस्तित्व को ही समाप्त कर रहा है। जैसा स्वामी जी ने 'सत्यार्थ प्रकाश' में लिखा है कि उनका जन्म इस देश में हुआ है इसलिये उनका पहला कर्तव्य उसकी धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक दुर्दशा को सुधारने का प्रयत्न करना है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि यही आर्यसमाज का अन्तिम लक्ष्य भी है। हिन्दु जाति की रक्षा और उसका सुधार करने की दृष्टि से भी यह आवश्यक नहीं है कि वह अपना पृथक् अस्तित्व हिन्दुओं में विलीन कर दे। यह दोनों के हित में भी नहीं है। इस सम्बन्ध में स्वर्गीय लाला लाजपतराय के पूर्व उद्धृत शब्दों को पुनः दोहराया जा सकता है कि हिन्दु रक्षा या सुधार का यह कार्य भी आर्यसमाज तभी सरलतापूर्वक कर सकता है जब वह अपनी पृथक् हस्ती कायम रखे। हिन्दु एकता के नाम पर भाई परमानन्द जी आदि ने जो मार्ग सुझाया था आज उसका कारण और आधार दोनों समाप्त हो गये हैं। उस समय राजनैतिक निर्वाचन और राजनैतिक अधिकारों का बंटवारा हिन्दु मुसलमानों की संख्या के आधार पर किया जाता था। किन्तु हमारे वर्तमान संविधान में धर्म या जाति तथा सम्प्रदाय के आधार पर न तो चुनाव हों का प्रावधान है और न ही राजनैतिक सत्ता या सरकार में बहुमत प्राप्त करने के लिये इस प्रकार का वर्गीकरण आवश्यक है।

संख्या नहीं शक्ति का महत्व

एक बात और ध्यान देने योग्य है कि केवल संख्या के आधार पर कोई जाति या समाज सत्ता, शक्ति और सफलता प्राप्त नहीं कर सकती। उसके लिये सख्या से अधिक शक्ति जरूरी है, संगठन एकता और साहस तथा प्रगतिशील जीवन शक्ति की आवश्यकता है। हमारा इतिहास बताता है कि थोड़े से मुसलमान आक्रमणकारियों ने उत्तर से दक्षिण तक इस विशाल देश और उसमें रहने वाले करोड़ों व्यक्तियों पर कई सौ वर्ष अपना प्रभुत्व बनाये रखा। अंग्रेजों ने भी इसी प्रकार हजारों मील दूर से आकर इस देश में अपना राज्य स्थापित किया यद्यपि आज भी उनकी जनसंख्या हमारे देश के एक उत्तर प्रदेश प्रान्त से भी कम है। स्वाधीनता के बाद भी हम यह देखते हैं कि हिन्दुओं की बहुसंख्या व्यवहार में अन्य संगठित अल्पसंख्यकों से भी कम परिणामकारी है। वास्तव में हिन्दु बहुसंख्यक हैं यही मान्यता गलत है, क्योंकि वे जातपांत तथा साम्प्रदायिक और क्षेत्रीय टुकड़ों में इतने बंट गये हैं कि ये सब टुकड़े पृथक् अल्पमत के समान कमजोर हैं। हिन्दु धर्म में सम्मिलित होकर आर्यसमाज की भी यही स्थिति होनी है और पृथक् रहकर उसका जो प्रभाव है वह भी तब समाप्त हो सकता है। अल्पमत के समुदायों को अपनी रक्षा के लिये संघर्ष करना पड़ता है। अपने प्रारंभिक जीवन में इसी संघर्ष, बलिदान और त्याग के वातावरण में आर्य-

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

समाज का उदय हुआ और उसका प्रभाव बढ़ा । मुझे यह देखकर आश्चर्य होता है कि हमारे कुछ नेता परिवार नियोजन का सिर्फ इस आधार पर विरोध करते हैं कि उससे हिन्दुओं की संख्या कम हो जावेगी । किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि अपनी सामाजिक और धार्मिक निर्बलताओं के रहते हुए यदि वे अधिक बच्चे उत्पन्न भी करें तो वे हिन्दु उत्पन्न होकर भी ईसाई और मुसलमान हो सकते हैं और होते हैं । दूसरे शब्दों में हम स्वयं भावी ईसाई और मुसलमान उत्पन्न करके उन्हें इन विधर्मियों को सौंपते हैं । उनकी संख्या बढ़ने का एक यह भी कारण है । केवल परिवार नियोजन का अहिन्दुओं द्वारा पालन न किया जाना ही नहीं है । दूसरी ओर उनके परिवारों में उत्पन्न हुए लोग इसी प्रकार हिन्दु बनकर हमारी संख्या में कोई वृद्धि क्यों नहीं करते, यह भी विचारणीय है ।

हिन्दु एकता का सही आधार

मैं एक बार पुनः पाठकों का ध्यान इस ओर आकर्षित करना चाहूंगा कि सारे हिन्दुओं को एकता के सूत्र में बांधने और इस दृष्टि से वास्तविक हिन्दू संगठन करने का रहस्य या मूलमन्त्र वही है जिसका विश्लेषण सावरकर ने अपनी हिन्दुत्व नामक पुस्तक में किया है । इसके विपरीत धर्म या धार्मिक विश्वासों के आधार पर हिन्दु संगठन के सब प्रयत्न निष्फल होंगे । जैसा 'विश्व हिन्दु परिषद्' के असफल प्रयत्न से स्पष्ट है । हिन्दु सम्प्रदायों या धार्मिक विचारों का समन्वय करने का असम्भव प्रयत्न करना अथवा उनके धार्मिक विश्वास से समझौते कराने की कोशिश करना, ऐसा ही निरर्थक सिद्ध होगा जैसा मेंढकों की सभा में सबको एकत्रित करना । इसके स्थान में धार्मिक मामलों में सहअस्तित्व और उदारता रखकर उन्हें सामाजिक आधार पर संगठित करने का प्रयत्न ही सफल हो सकता है ।

आर्यसमाज हिन्दु सम्प्रदाय नहीं है

अभी तक हमने एक स्वतन्त्र धार्मिक संगठन के रूप में तथा हिन्दु समाज के एक अंग और संरक्षक के रूप में आर्यसमाज की स्थिति पर विचार किया, किन्तु अभी १९ नवम्बर, १९७५ को दिल्ली हाई कोर्ट ने आर्यसमाज की स्थिति के सम्बन्ध में जो निर्णय दिया है उसके कारण उसके भविष्य के सम्बन्ध में एक गम्भीर प्रश्न उत्पन्न हो गया है । इस निर्णय के अनुसार आर्यसमाज को हिन्दु धर्म का एक सैक्ट या सम्प्रदाय घोषित किया गया है । यह स्थिति आर्यसमाज के गत १०० वर्षों के इतिहास और उसके संस्थापक के स्पष्ट आदेश और मन्तव्य की विडंबना है ।

सम्प्रदायों का खंडन

सत्यार्थ प्रकाश में स्वामी दयानन्द ने प्रत्येक हिन्दू सम्प्रदाय का बड़े कड़े शब्दों में खंडन किया है । ग्यारहवें समुल्लास में उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि उनका उद्देश्य किसी की धार्मिक भावनाओं को आहत करना अथवा पक्षपात करना नहीं है ।

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

उन्होंने यह अप्रिय कार्य केवल मनुष्य मात्र के लिये मत मतांतरों के स्थान में एक सार्वभौम वैदिक धर्म के आदर्श को प्रतिपादित करने के लिए किया था, इसीलिए उन्होंने दसवें समुल्लास में लिखा कि "देश में बहुत से मत होने के कारण बहुत सा दुःख और विरोध बढ़ गया है।" उत्तरार्द्ध की अनुभूमिका में वे लिखते हैं कि "मत मतान्तर के विवाद से जगत् में जो अनिष्ट फल हुए हैं, और होंगे उनको पक्षपात रहित विद्वद्जन जान सकते हैं, जब तक इस मनुष्य जाति में परस्पर मिथ्या मत मतान्तर का विरुद्धवाद न छूटेगा तब तक अन्योऽन्य को आनन्द न होगा। यदि हम सब मनुष्य और विशेषकर विद्वज्जन ईर्ष्या द्वेष छोड़कर सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करना चाहें तो हमारे लिये यह बात असाध्य नहीं है।"

"यह निश्चय है कि इन विद्वानों के विरोध ही ने सबको विरोध जाल में फंसा रक्खा है। यदि ये लोग अपने प्रयोजन में न फंसकर सबके प्रयोजन को सिद्ध करना चाहें तो अभी ऐक्य मत हो जावे।"

एक गम्भीर चुनौती

आर्यसमाज के लिये यह सचमुच बड़े दूर्भाग्य और लज्जा की बात है कि आज उसका सार्वभौम वैदिक धर्म हिन्दु धर्म का एक सम्प्रदाय मात्र घोषित किया जावे। आर्यसमाज के स्वरूप की इससे अधिक विकृति और क्या हो सकती है? आर्यसमाज के लिये यह एक अतिरिक्त कारण और चुनौती है कि वह भविष्य में निस्संकोच और स्पष्ट रूप से यह घोषित करे कि वह तथाकथित हिन्दु धर्म से एक सर्वथा पृथक् धर्म है, तभी वह अपनी इस विकृति से मुक्ति पाकर वास्तविक स्थिति प्राप्त कर सकता है।

'सम्प्रदाय' किसका ?

जैसा हम देख चुके हैं, हिन्दु धर्म नाम का कोई संगठित धर्म है ही नहीं। तब आर्यसमाज ऐसे अस्तित्वहीन धर्म का अंग या सम्प्रदाय कैसे हो सकता है? स्वयं महात्मा गांधी जैसे निष्ठावान् हिन्दू ने यह स्वीकार किया है कि 'जिसे हिन्दु धर्म कहा जाता है, वास्तव में वह कोई पृथक् धर्म नहीं है। और न ही उसकी कोई निश्चित परिभाषा की जा सकती है।"[1]

सावरकर की भी यही मान्यता थी, यह हम देख चुके हैं। जनसघ तथा राष्ट्रीय स्वयं सेवक सघ से अधिक हिन्दुत्व का कोई दूसरा और कट्टर समर्थक कौन हो सकता है? उनके प्रमुख नेता श्री अटलबिहारी वाजपेयी ने भी यह स्वीकार किया है कि हिन्दु धर्म किसी धर्म विशेष का नाम नहीं है। यही कारण है कि महात्माजी अपने को सनातनी या पौराणिक हिन्दू कहते थे, ऐसी स्थिति में आर्यसमाज का धार्मिक दृष्टि से हिन्दू धर्म का अंग होने की बात विरोधाभास है।

दिल्ली उच्च न्यायालय के निर्णय में यह भी कहा गया है कि सिक्ख, जैन तथा बौद्ध ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दृष्टि से हिन्दु होने पर भी धार्मिक दृष्टि से

1. Hindu Dharma by M.K. Gandhi P. 17

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

हिन्दु नहीं है, बल्कि एक पृथक् अल्पसंख्यक धर्म है।

सिक्ख और आर्यसमाज

यदि सिक्खों के लिये यह मापदण्ड लागू हो सकता है तो आर्यसमाज को इसी आधार पर स्वतन्त्र धर्म मानना कहीं ज्यादा युक्तिसंगत और वास्तविक है। सिक्ख गुरुओं की वाणी तथा उनके ग्रन्थ साहब में हिन्दू देवी देवताओं और अन्य पौराणिक हिन्दु मान्यताओं का प्रत्यक्ष या परोक्ष में उल्लेख है। दूसरी ओर ऋषि दयानन्द ने उनका स्पष्ट रूप में निषेध और खण्डन किया है। दसवें और अन्तिम गुरु गोविन्द सिंह जी को स्वतन्त्र सिक्ख धर्म का संस्थापक कहा जाता है, किन्तु उनकी एक प्रसिद्ध वाणी निम्न प्रकार है—

सकल जगत में खालसा पन्थ गाजे,
जगे धर्म हिन्दु, सकल भंड भागे।

इसमें खालसा या सिक्ख धर्म को केवल पन्थ यानी सैक्ट या सम्प्रदाय कहा है, जबकि दूसरी ओर हिन्दू धर्म के जागने की कामना की गई है। सर गोकुलचन्द नारंग ने सिखों के इतिहास पर अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में उनकी प्रत्येक धार्मिक मान्यता का हवाला देकर यह सिद्ध किया है कि "It is a phase of Hindu religious revival and has in consequence retained all essential features of real Hinduism," अर्थात "सिक्ख धर्म हिन्दु धार्मिक पुनरुज्जीवन का ही एक रूप है, और परिणाम स्वरूप उसमें वास्तविक हिन्दू धर्म के सब आवश्यक तत्त्व मौजूद है।"[1] आज भी सिन्धी हिन्दु गुरु नानक और ग्रन्थ साहब को मानकर भी हिन्दु धर्म के अनुयाई समझे जाते हैं।

यह सर्वविदित है कि पंजाब में सिक्ख और हिन्दु एक धर्म, एक परिवार और एक जाति के सदस्य समझे जाते हैं। अंग्रेजों ने इन्हें हिन्दुओं में फूट डालने के लिये पृथक् होने के लिये उत्साहित किया और सेना आदि में सिखों से ज्यादा उनके पृथक्त्व को बनाये रखने के नियम बनाये। अनेक सिख नेताओं ने राजनैतिक कारणों से अपना यह पृथक् अस्तित्व स्वीकार किया, और अब तो इस आधार पर राज्य और राजनैतिक सत्ता आदि विशेष अधिकार प्राप्त होने का प्रलोभन भी है, किन्तु आर्यसमाज ने हिन्दू संगठन और हिन्दू एकता की भावना से प्रेरित होकर अपने लिये कोई पृथक् राजनैतिक अधिकार नहीं मांगे। दिल्ली उच्च न्यायालय ने यही आश्चर्यजनक और विचित्र दलील दी है कि सिख एक पृथक् अल्पमत का धर्म इसलिये है कि उसके अनुयायियों ने मुसलमानों और ईसाईयों के समान पृथक् राजनैतिक अधिकारों की मांग की थी। आर्यसमाज के जो व्यक्ति आज भी धार्मिक दृष्टि से आर्यसमाज को हिन्दुओं से पृथक् मानने का विरोध करते हैं उनकी आंखें इस निर्णय से खुल जानी चाहिए। हिन्दुओं की रक्षा के लिये आर्यसमाज ने जो त्याग किया आज उसी का यह दण्ड उसे दिया जा रहा है।

---

1. The Glorious History of Sikhism; Page 282

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

गलत निर्णय

इस निर्णय में एक और गम्भीर भूल है। विद्वान् न्यायाधीशों ने यह कहा है कि हिन्दू धर्म भी ईसाइयत और इस्लाम के समान एक संगठित और निश्चित धर्म है, जैसा आर्यसमाज नहीं है। हम ऊपर दिये गये तर्क और अधिकृत प्रमाणों से यह सिद्ध कर चुके हैं कि जहाँ हिन्दू धर्म की कोई निश्चित परिभाषा या संगठन नहीं है वहाँ आर्यसमाज सब दृष्टियों से एक सुनिश्चित और संगठित धर्म है।

सिक्खों के इतिहास और धार्मिक मान्यताओं की यदि हम आर्यसमाज से तुलना करें तो यह निर्विवाद है कि धार्मिक दृष्टि से सिखों की मान्यताएं हिन्दु धर्म के ज्यादा नजदीक है, जैसा सर गोकुलचन्द नारंग ने सिद्ध किया है। दूसरी ओर आर्यसमाज प्रारम्भ से ही अपने को हिन्दु धर्म से और यहाँ तक कि हिन्दु नाम से अलग रखने का प्रयत्न करता रहा है। एक संगठित धर्म की दृष्टि से भी वह सनातन या पौराणिक धर्म से सर्वथा भिन्न है। "संस्कृति के चार अध्याय" नामक पुस्तक में राष्ट्र कवि दिनकर ने तो यहाँ तक लिखा है कि "आर्यसमाज इस्लाम की संस्कृत आवृत्ति है।" प्रारम्भ में कट्टर हिन्दू भी तो आर्यसमाज को ईसाइयों और मुसलमानों के ज्यादा नजदीक या समान समझकर उन्हें हिन्दू स्वीकार करने तक को तैयार नहीं थे, जैसा हम पीछे देख आये हैं।

आर्यसमाज का स्वतन्त्र धार्मिक स्वरूप

आधुनिक विचारधारा के अनुसार किसी संगठित धर्म के तीन मुख्य लक्षण हैं। पहला, एक धर्म ग्रन्थ, दूसरा एक पैगम्बर या संस्थापक और तीसरा निश्चित धार्मिक सिद्धान्त या विश्वास। इस कसौटी पर आर्यसमाज को आसानी से एक पृथक् संगठित धर्म कहा जा सकता है। आर्यसमाज का एक मात्र धर्म ग्रन्थ वेद है। उसके निश्चित धार्मिक सिद्धान्त सत्यार्थ प्रकाश में लेखबद्ध हैं। पैगम्बर के बदले आर्यसमाज के संस्थापक ऋषि दयानन्द हैं। ईसाइयों या मुसलमानों के पैगम्बर या मसीहा की कल्पना आर्यसमाज की दृष्टि में विशुद्ध एकेश्वरवाद के सिद्धान्त के विरुद्ध है। हिन्दू धर्म के बारे में पाश्चात्य विचारकों और इस्लाम तथा ईसाइयत की सबसे बडी शिकायत या आलोचना यही है कि जहाँ ईसाइयत और इस्लाम एक ईश्वर (Monotheism) को मानते हैं वहाँ हिन्दू धर्म बहुदेवतावादी (Polytheist) है। क्योंकि वह अनेक देवी देवताओं को मानता है उनकी मूर्तियाँ बनाकर पूजता है। आर्यसमाज की ओर से इसका प्रत्युत्तर यही दिया जाता है कि ईश्वर और मनुष्य के बीच में किसी मसीहा या मध्यस्थ को स्वीकार करने के कारण ये दोनों धर्म भी सही अर्थों में एकेश्वरवादी नहीं है, जैसा आर्यसमाज है। हम ऋषि दयानन्द को या अन्य किसी को कोई अवतार या ईश्वरीय दूत या पैगम्बर स्वीकार नहीं करते। आर्यसमाज की मान्यता है कि ईश्वर के एकत्व (Unity of God) और सार्वभौमिक सत्ता (Sovereignty) में किसी शैतान (Satan) की चुनौती या पैगम्बर की मध्यस्थता अनिवार्य मानना एक ही ईश्वर के अस्तित्व और सर्वशक्तिमत्ता को अस्वीकार करना है।

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

वेद और आर्यसमाज

वेद के सम्बन्ध में भी आर्यसमाज की ऐसी ही एक विशिष्ट मान्यता है। इसलिये यह कहना कि हिन्दू भी वेद को मानते हैं, इसलिये आर्यसमाज भी हिन्दु धर्म का एक अंग है भ्रमपूर्ण धारणा है। प्रथम तो वर्तमान हिन्दू धर्म केवल वेद को ही अपना एकमात्र धर्म ग्रन्थ स्वीकार नहीं करता। वेद के अतिरिक्त मनु आदि स्मृतियाँ, भागवत आदि पुराण भी हिन्दुओं के मान्य धर्म ग्रन्थ हैं। जैसा लोकमान्य तिलक की परिभाषा का विवेचन करते हुए कहा गया है कि इस धर्म का इसीलिये सही नाम 'श्रुतिस्मृति, पुराणोक्त सनातन धर्म' है। आर्यसमाज वेद के सिवाय और किसी ग्रन्थ या स्मृति अथवा पुराणों को धर्म ग्रन्थ मानने का स्पष्ट निषेध करता है। अनेक हिन्दू विद्वानों ने इसीलिये ऋषि दयानन्द की यह कहकर आलोचना की है कि उन्होंने वैदिक काल के बाद में हिन्दु धर्म में हुए परिवर्तनों और रचे गये धार्मिक ग्रन्थों को अमान्य घोषित करके हिन्दू धर्म के व्यापक स्वरूप को संकीर्ण कर दिया है। महात्मा गांधी का भी जार्यसमाज पर यही आरोप था।

आर्यसमाज के वेद अलग हैं

दूसरे ऋषि दयानन्द ने वेदों के जो अर्थ किये हैं वे सायण महीधर आदि उन सनातनी भाष्यकारों से इतने भिन्न हैं कि उसके आधार पर यह कहना कि दोनों एक ही वेद को मानते हैं, गलत होगा। मेक्समूलर, ग्रिफिथ आदि विद्वानों ने भी ऋषि दयानन्द के वेद भाष्य की यही कह कर समालोचना की है कि उन्होंने वेदों का मनमाना अर्थ किया है। वस्तुतः जैसे हम यह नहीं कह सकते कि क्योंकि सब धर्म ईश्वर को मानते हैं इसलिए सब पृथक न होकर एक ही हैं, उसी प्रकार वेद को मानने पर भी पौराणिक हिन्दू धर्म तथा आर्यसमाज का वैदिक धर्म न केवल भिन्न ही है, अपितु परस्पर विरोधी भी है। जहां एक ओर सनातनी हिन्दू मूर्ति पूजा, जात पांत, श्राद्ध, छुआछूत, तीर्थ, अवतार और यहां तक कि बाल.विवाह और नरबलि आदि के लिए भी वेद को प्रमाण मानते हैं, वहां दूसरी ओर ऋषि दयानन्द ने अपने ग्रंथ 'सत्यार्थ प्रकाश' तथा 'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका' में इन्हीं वेद मन्त्रों के सर्वथा भिन्न अर्थ करके इन सब सनातनी ओर पौराणिक धार्मिक विश्वासों को वेद विरुद्ध सिद्ध किया है. और अपने द्वारा प्रतिपादित सर्वथा भिन्न सिद्धान्तों को वेदानुकूल बताया है। इस प्रकार ईश्वर को मानने पर भी उसके स्वरूप और सत्ता तथा शक्तियों के बारे में मतभेद होने के कारण धर्मों की पृथक्ता स्वीकार की गई है, उसी प्रकार वेदों के सम्बन्ध में इस भिन्नता के आधार पर आर्यसमाज का पृथक् अस्तित्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता। एक आर्यसमाजी के लिए वेदों के इन भिन्न अर्थों का विवाद निरर्थक है क्योंकि उसकी मान्यता है कि ऋषि दयानन्द द्वारा किये गये अर्थ वाले वेद ही ईश्वरीय ज्ञान हैं। योगी अरविन्द घोष ने सनातनी और पाश्चात्य वेद भाष्यकारों की कड़ी समालोचना करके ऋषि दयानन्द के भाष्य का समर्थन करते हुए जैसा कहा है कि यदि वेद वे ही हैं जैसे सायण, महीधर अथवा मैक्समूलर आदि ने उनके अर्थ किये हैं तो उनका आज कोई उपयोग नहीं, और उन्हें प्राचीन असभ्य युग के अवशेष समझकर कूड़े के ढेर में फेंक देना चाहिये। बौद्धों और जैनों ने भी

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

वेदों के इन्हीं पौराणिक अर्थों के कारण उन्हें अस्वीकार कर दिया।

सिन्धी हिन्दू गुरु नानक और ग्रन्थ साहब को मानते हैं फिर भी वे सिक्ख नहीं हैं हिन्दू हैं। वेदों के बारे में सिक्ख गुरुओं की जानकारी या अध्ययन नहीं था।

आर्यसमाज में ऋषि दयानन्द की स्थिति

यह कहा जा सकता है कि ऋषि दयानन्द ने स्वयं 'स्वमन्तव्यामन्तव्य' में लिखा है कि उनका कोई नवीन मत चलाने का अभिप्राय नहीं है; इसलिये आर्यसमाज को एक पृथक् या स्वतन्त्र धर्म कहना उनकी भावना के विपरीत होगा। इसी आधार पर कुछ लोग उसे हिन्दू धर्म का एक सुधरा हुआ सम्प्रदाय मानते है, किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि स्वामीजी ने ग्यारहवें समुल्लास में हिन्दू धर्म के अंतर्गत आने वाले प्रत्येक मत और सम्प्रदाय का खण्डन किया है और यह कहकर किया है कि उनका उद्देश्य सत्यासत्य का निर्णय करके एक 'सार्वभौम वैदिक धर्म' का प्रतिपादन करना है। जैसे दसवें सम्मुल्लास के अन्त में भी वे स्वयं कहते हैं कि पहले 'सर्व भूगोल में वेदोक्त एक ही मत था।' सत्यार्थ प्रकाश के उत्तरार्द्ध की भूमिका में उन्होंने वेद विरुद्ध धर्मों में सबसे प्रथम पौराणिक धर्म का उल्लेख किया है। अतः यह कल्पना करना भी उनके प्रति खुला विद्रोह करना होगा कि हम आर्यसमाज को इसी वेद-विरुद्ध पौराणिक हिन्दू धर्म का एक अंग या सम्प्रदाय स्वीकार कर लें।

मूर्ति पूजा का खंडन न करने के सुझाव का उत्तर देते हुए स्वामी जी ने स्पष्ट कहा था कि यदि उन्होंने मूर्ति पूजा का खंडन करने में कोई समझौता किया तो ऐसा करने से 'आर्यसमाज भी कालान्तर में पौराणिक हो जावेगा और हिन्दुत्व में समा जावेगा।'

इसी प्रकार आर्यसमाज को हिन्दू धर्म से पृथक् धर्म मानने का यह अर्थ करना भी गलत होगा कि स्वामीजी ने अपना कोई मत या धर्म चलाया है। आर्यसमाज की भी यह मान्यता नहीं है। उसका कहना तो केवल इतना ही है कि जिस धर्म को वह मानता है उसका आधार वेद हैं। किन्तु स्वामीजी ने वेद नहीं बनाये हैं। केवल उनका 'सत्य अर्थ' उन्होंने 'प्रकाशित' किया है। वैदिक धर्म में ऋषि दयानन्द की स्थिति लगभग वैसी ही है, जैसी वेदों के सम्बन्ध में आदित्य, अंगिरा आदि ऋषियों की है। वेद इन ऋषियों का ज्ञान नहीं बल्कि ईश्वरीय ज्ञान हैं। इसी वैदिक धर्म के प्रचार व प्रसार के लिये ऋषि दयानन्द ने आर्यसमाज रूपी पृथक् संगठन बनाया, परिणामस्वरूप वह पौराणिक हिन्दू धर्म से सर्वथा भिन्न और पृथक् है। यह मान्यता ऋषि दयानन्द की मान्यता के अनुरूप है।

जिस वेदोक्त धर्म की सत्यता सिद्ध करने के लिये उन्होंने अन्य सब धर्मों की समालोचना की थी इनमें से किसी धर्म के अनुयायियों ने एक मत या बहुमत से उस धर्म को स्वीकार करके अपने मत मतान्तरों को समाप्त नहीं किया, जैसा ऋषि दयानन्द चाहते थे। स्वामीजी का कहना था कि जब ईश्वर एक है तो ईश्वरीय ज्ञान या धर्म भी एक ही हो सकता है। संसार के वर्तमान धर्म केवल ईश्वर प्राप्ति के अलग-अलग मार्ग हैं, ऐसा वे नहीं मानते हैं, वस्तुतः इन धर्मों का मुख्य आधार

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

ईश्वर के सम्बन्ध में भी भिन्न-भिन्न मान्यताओं पर आधारित है। ऐसी स्थिति में स्वामीजी की यह मान्यता सर्वथा युक्तिसंगत है कि जब ईश्वर एक ही है तो उसके आदेश या धर्म अनेक नहीं हो सकते। जहाँ तक पौराणिक या सनातन धर्म के हिन्दुओं का प्रश्न है, उन्होंने भी स्वामीजी के इस वेदोक्त धर्म को स्वीकार नहीं किया है। आज भी उनकी बहुसंख्या स्वामीजी द्वारा प्रतिपादित इस वैदिक धर्म को अस्वीकार करती है और केवल आर्यसमाज ने उसे स्वीकार किया है, जो स्पष्ट रूप से अल्पमत में है। इस वस्तु स्थिति के कारण भी वह एक पृथक् धार्मिक अल्प-संख्यक है, यह स्वय सिद्ध तथ्य है।

स्पष्ट धार्मिक सिद्धान्त

आर्यसमाज के धार्मिक सिद्धान्तों की विवेचना करने का यह अवसर नहीं है, किन्तु जैसा स्वामीजी ने सत्यार्थ प्रकाश में उनका विवेचन किया है और धर्मों के विश्वकोष में स्वीकार किया गया है, इन सिद्धान्तों को हिन्दू धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों से भिन्नता और पृथक्ता में कोई सन्देह नहीं रह जाता।

पृथक् संगठन

इसके अतिरिक्त स्थानीय, प्रान्तीय तथा सार्वदेशिक स्तरों पर आर्यसमाज का एक लिखित और निश्चित संविधान है जो उसे अन्य धर्मों से कहीं ज्यादा संगठित धर्म सिद्ध करता है। उसके अलग उपासना स्थान हैं, जहाँ नियमित धार्मिक सत्संग, होते हैं जीवन से मृत्यु पर्यन्त उसके पृथक् संस्कार हैं। ऐसी स्थिति में आर्यसमाज का एक पृथक् Organised Religion (संगठित धर्म) मानने में किसी को शंका नहीं होनी चाहिए।

भविष्य के लिए कुछ सुझाव

इस लेख के शीर्षक से स्पष्ट है कि उसका उद्देश्य पिछले सौ वर्षों के अनुभव के आधार पर आर्यसमाज के भविष्य के सम्बन्ध में कुछ विचार आर्यजगत् के सामने प्रस्तुत करना था।

पिछले पृष्ठों में हमने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि धार्मिक दृष्टि से यदि आर्यसमाज का पृथक् अस्तित्व न रहा तो वह अन्य सम्प्रदायों के समान हिन्दू धर्म में विलीन होकर अन्त में समाप्त हो जावेगा। इसके अस्तित्व की रक्षा के आधारभूत प्रश्न पर पहले विचार करना आवश्यक था। आर्यसमाज का अस्तित्व रहने पर ही उसके भविष्य पर विचार करने की आवश्यकता रह सकती है। किन्तु यह भी इतना ही सही है कि किसी जाति या संगठन का अस्तित्व ही उसकी प्रगति व शक्ति का प्रमाण नहीं हो सकता। यह बात हिन्दुओं के अमिट कहे जाने वाले अस्तित्व से जाहिर है। अतः यह प्रश्न भी विचारणीय है कि उसके अस्तित्व को सुरक्षित रखने के बाद उसका भविष्य किस प्रकार उज्ज्वल और प्रभावशाली बन सकता है ताकि वह ऋषि दयानन्द की कल्पना के अनुसार एक सार्वभौम आन्दोलन सिद्ध हो।

इस महत्वपूर्ण प्रश्न का विवेचन इस लेख की वर्तमान परिधि में सम्भव

 Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

नहीं है किन्तु यह स्पष्ट है कि भविष्य सम्बन्धी यह विवेचन उतना ही महत्त्वपूर्ण और अनिवार्य है जितना उसके अस्तित्व का प्रश्न।

इस दृष्टि से नीचे कुछ बिन्दुओं का संकेत किया जा सकता है जिनको आधार मानकर भावी कार्यक्रम तथा कार्यशैली पर विचार किया जाना चाहिए—

१. पौराणिक हिन्दू धर्म से पृथक् एक स्वतन्त्र धार्मिक संस्था के रूप में सुसंगठित और विकसित होने पर आर्यसमाज के उज्ज्वल भविष्य का मार्ग स्वतः बहुत कुछ प्रशस्त हो जावेगा। उसमें से वर्तमान अवसरवादी तथा अराजकतावादी तत्त्वों के निष्कासन से उसकी संख्या घटने पर भी उसमें नवीन उत्साह, शक्ति और संघर्ष की भावना उत्पन्न होगी।

२. आर्यसमाज और उसकी सभाओं का वर्तमान प्रजातन्त्रात्मक संविधान सिद्धान्तरूप से आदश होने पर भी उसके कारण अनेक बुराइयां उत्पन्न हो गई हैं। आर्यसमाज के संविधान पर इस दृष्टि से पुनः विचार आवश्यक है।

३. अपने आधारभूत धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक स्वरूप के साथ ही आर्यसमाज एक राष्ट्रीय आन्दोलन भी है। किन्तु वह राजनैतिक नहीं है और न होना उपयुक्त ही है। ऋषि दयानन्द के 'समग्र दर्शन' के नाम पर उसे दल और सत्तागत राजनीति में घसीटने का प्रयत्न (विशेषकर स्वराज्य प्राप्ति के बाद) पहले से ही 'रोगी' आर्यसमाज के लिये एक घातक कुपथ्य सिद्ध होगा। पिछले अनुभवों से यह एक 'गुनाह बेलज्जत' भी सिद्ध हो चुका है।

४. आर्यसमाज का व्यापक स्वरूप अभिशाप के स्थान में वरदान तभी सिद्ध हो सकता है जब वह अपने सामर्थ्य, साधन और क्षमता के अनुसार अपने उद्देश्यों और कार्यों की प्राथमिकताएं निश्चित करके आगे बढ़े।

५. हमारे साप्ताहिक सत्संग और वार्षिक उत्सव धार्मिक और आध्यात्मिक आकर्षण के साधन होने चाहिए। रविवार को ईसाई चर्चों तथा ईद आदि पर मुसलमानों की नमाज जिस प्रकार सामूहिक उपासना के साधन हैं उसी प्रकार हम अपने पर्वों और उपासना को सामूहिक महत्त्व का कैसे बना सकते हैं यह विचारणीय है।

६. एक धर्म ग्रन्थ : ऋषि दयानन्द के सिद्धान्तों और मान्यताओं के आधार पर 'वेद सार' 'वेद धर्म' 'वेदार्थ' या अन्य किसी उपयुक्त नाम से वेद मन्त्रों का एक अपेक्षाकृत संक्षिप्त संग्रह संकलित किया जावे, जिसका गीता, उपनिषद्, रामायण आदि के समान समाज मंदिरों में तथा परिवारों में पाठ किया जा सके और इन वेद मन्त्रों के काव्यमय हिन्दी भाषान्तर को कीर्तन, संगीत तथा भजनों के रूप में गाया जा सके।

७. इसी प्रकार ऋषि दयानन्द के सिद्धान्तों, आर्यसमाज का मान्यताओं तथा रामायण, महाभारत, गीता, उपनिषद् आदि की वेदानुकूल शिक्षाओं के आधार पर एक अन्य अविकृत ग्रन्थ की रचना की जावे जिसे सब भाषाओं और देशों में बाइबिल सोसायटी के समान वितरित किया जा सके और जो आर्यसमाज के अनुयायियों

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

तथा उसमें प्रविष्ट होने वाले अन्य सब व्यक्तियों के लिये 'परिचय' या 'पाठ्य पुस्तक' के समान उपयोगी सिद्ध हो।

८. हमारी प्रचार प्रणाली अब भी 'संख्या', 'उपस्थिति' और 'भीड़' को आकर्षित करने तक ही सीमित है। भविष्य में उसका उद्देश्य व्यक्तिगत विचार और व्यवहार में परिवर्तन करने की क्षमता उत्पन्न करना होना चाहिए। हमारे पुराने भजनीक और उपदेशक इसीलिये अब असफल होते हैं। उनका उपयोग केवल जनता को आकर्षित करने के लिए होता है।

९. बौद्ध, जैन और ईसाई धर्म प्रचारकों तथा रामकृष्ण मिशन के स्वामियों के समान आर्यसमाज में संन्यासी वर्ग की दीक्षा एवं प्रशिक्षण का अधिकृत प्रबन्ध होना चाहिए। इसी प्रकार ईसाई पादरियों के समान प्रशिक्षित और प्रत्येक समाज में पूरे समय के 'पुरोहित' तथा आर्य वीर दल के समर्पित प्रचारकों की व्यवस्था पर विचार आवश्यक है।

१०. अभी तक आर्यसमाज का प्रचार हिन्दी क्षेत्रों तक ही सीमित है। भारत के अन्य भाषा भाषी प्रान्तों और विदेशों में उसके लिये उपयुक्त साहित्य और प्रचारक होने जरूरी हैं।

११. अन्य धार्मिक संगठनों में 'भेंट' 'दक्षिणा' तथा 'दान' की प्रणाली के अनुसार हमारे यहाँ भी आर्यसमाज के कार्य और प्रचार के लिये धन संग्रह की स्वयं संचालित व्यवस्था होनी चाहिए। इसके पीछे अन्धविश्वास के स्थान में श्रद्धा तथा सामाजिक कर्त्तव्य की भावना कैसे उत्पन्न की जावे, इस पर विचार होना चाहिए।

१२. आर्य बिरादरी जैसे सामाजिक संगठन के विकास पर विचार हो ताकि जात पांत के बहिष्कार, अन्तर्जातीय विवाहों के करने वाले और अन्य धर्मों से समाज में आने वाले लोगों की सामाजिक समस्याओं का समाधान किया जा सके। जाति वाचक नामों और चिह्नों पर प्रतिबन्ध होना चाहिए।

१३. आर्यसमाज की डी० ए०-वी० तथा गुरुकुल आदि समस्त शिक्षण सस्थाओं का एक केन्द्रीय संगठन आवश्यक है (स्वर्गीय डॉ० मेहरचन्द महाजन की प्रेरणा से इस प्रकार का एक सार्वभौम संगठन बनाया भी गया था)।

१४. दयानन्द विश्वविद्यालय की स्थापना का प्रयत्न हो, जो आर्यसमाज की हजारों शिक्षण संस्थाओं तथा देश विदेश में शिक्षा के क्षेत्र में उसके महत्त्वपूर्ण योगदान और ऋषि दयानन्द के मार्गदर्शन का प्रतीक हो।

१५. स्वामीजी के स्वीकारपत्र के उद्देश्यों और विशेषकर उनके ग्रन्थों का और अधिक व्यापक प्रसार और प्रकाशन करने की दृष्टि से परोपकारिणी सभा का जीर्णोद्धार।

१६. आर्यसमाज के संगठन का कोई सर्वोच्च ऐसा नेतृत्व जिसकी प्रतिष्ठा और निष्पक्षता के आधार पर आर्यजगत् में अनुशासन और एकता कायम रखी जा सके।

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

१७. आर्यसमाज तथा उसकी संस्थाओं की सम्पत्ति की सुरक्षा के लिये गुरुद्वारा प्रबन्धक समिति जैसी कोई कानूनी और अधिकृत व्यवस्था।

१८. अजमेर, टंकारा, मथुरा आदि में स्वामी जी से सम्बन्धित स्मारकों का अधिकृत प्रबन्ध तथा उपयोग करने की केन्द्रीय व्यवस्था।

१९. आर्यसमाज और उसकी सभाओं आदि में 'चुनाव' की निश्चित प्रक्रिया (Procedure) तथा उनके अथवा सिद्धान्तों सम्बन्धी विवादों का निर्णय करने की व्यवस्था।

२०. आर्यसमाज में प्रवेश से पूर्व दीक्षा तथा कुछ संस्कार समाज मन्दिर में ही करने का नियम।

२१. एक ऐसे केन्द्रीय शोध संस्थान की स्थापना जहां देश विदेश के विद्वान् ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों, वेद तथा आर्यसमाज की दृष्टि से रामायण, महाभारत, गीता, उपनिषद् आदि पर शोधपूर्ण और विद्वत्तापूर्ण साहित्य तैयार कर सकें।

प्रचार ट्रैक्ट : १००) हजार

१. आर्यसमाज क्या मानता है ? श्री मदनमोहन विद्यासागर
२. महर्षि दयानन्द की विशेषताएं : महात्मा नारायण स्वामी
३. आर्यसमाज की मान्यताएं : पं० रामचन्द्र देहलवी
४. विश्व को वेद का सन्देश—पं० भारतेन्द्रनाथ
५. आर्यसमाज के दस नियम (व्याख्या सहित)
६. नियन्त्रण आर्यसमाज का : स्व० पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय
७. आर्यसमाज के १०० वर्ष : पं० भारतेन्द्रनाथ
८. सुख का मार्ग : पं० भारतेन्द्रनाथ
९. आर्य कौन ? पं० हरिशरण सिद्धान्तालंकार
१०. स्वास्थ्य का महान शत्रु अण्डा : स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती
११. साम्यवाद—समाजवाद क्यों नहीं ? महात्मा नारायण स्वामी
१२. स्वमन्तव्यान्तव्य प्रकाश : महर्षि दयानन्द
१३. मूर्ति पूजा से हानियां : महर्षि दयानन्द
१४. आर्योद्देश्य रत्नमाला : महर्षि दयानन्द
१५. वैदिक संध्या—अर्थ सहित   १६. वेद महिमा

ये सभी ट्रैक्ट १००) हजार। १५) सैकड़ा दिए जाएंगे। ट्रैक्ट ११००० से कम हजार के रेट में नहीं भेजेंगे।

भारी संख्या में मंगाकर प्रचार करें

दयानन्द-संस्थान, नई दिल्ली-५

 Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

अभिमन्यु का रणभूमि गमन

सज्जित शय्या पर थी लेटी, उत्तरा लता सी अलसाई।
अरुणिम आनन पर झलक रही दुर्बलता की पीली झांई।
केसर की क्यारी पर जैसे ऊषा की पहिली किरण खिली,
अट पट चारु कपोलों पर बादल की रेखा सी मचली।

× ×

था अभी गर्भ में वसुधा के बालक रवि ऐसा था लगता,
सस्मित उसके मुख पंकज पर स्वागत भाव दिखा झलका।
अधखिले नेत्र रतनार कमल, जिन पर पति प्रेम पराग झरा,
जैसे नीलम के प्यालों में था, तृप्त नेह का सार भरा।

× ×

वक्षस्थल पर प्राणेश्वर का कर युग्म पाणि से दबा हुआ,
ज्यों अमृत कलश की रक्षारत, अहि कनक कोट से घिरा हुआ।
था मस्तक प्रिय की गोदी में, वह अपलक छवि को निरख रहे,
पलकों की डोरी से पलने के सुन्दर सपने बरस रहे।

× ×

कुरुक्षेत्र भूमि पर शंखनाद, आह्वान कर रहा वीरों का,
जिनकी सुख शय्या हो कंठहार अरि तीरों का।
सेविका द्वार पर थपकी दे, नतनयन शयन मन्दिर आई।
बोली महाराज युधिष्ठिर ने युवराज पत्रिका भिजवाई।

× ×

अभिमन्यु सवेग उठे, सादर पाती को शिर से लगा लिया,
पढ़कर वह मौन हुआ क्षण भर, फिर मन ही मन मुस्करा दिया।
वह बोले कुछ इससे पहले, उत्तरा पूछ बैठी क्या है?
क्या नाथ विजय पाई हमने? मैं समझी शुभ सन्देशा है।

× ×

देखूं—कहकर कर से पाती, ले पढ़कर वह थी मौन हुई,
फिर मधुराधर से अधर मिला सस्मित शय्या से उतर गई।
भीतर प्रकोष्ठ में गई और क्षण भर में थाल सजा लाई,
आरती पुष्प माला अक्षत कुंकुम ले हंसती सी आई।

× ×

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

बोले प्राणेश्वर—प्राण प्रिये ! सत्कर्म हमारे हुए उदय,
हो गया धन्य जो पूज्य तात इस सेवक पर हो गए सदय।
है पितृ चरण अन्यत्र आज बस इससे ही सौभाग्य मिला,
पाकर यह समर निमन्त्रण है सचमुच मेरा उर कमल खिला।

× ×

गुरु द्रोण देव जब देखेंगे, उनकी शिक्षा सब हुई सफल,
शिष्यात्मज के हाथों ही है हो गई व्यूह सृष्टि असफल।
सुख-दुःख के भाव परस्पर मिल उनके श्रीमुख पर आएंगे,
कैसा होगा वह रूप प्रिये ! हम देखेंगे हर्षाएंगे।

× ×

जब पूज्य पिता वापस आकर वृत्तांत सभी सुन पाएंगे,
चुक गई दक्षिणा जान, मुझे पुलकित हो गले लगाएंगे।
उस क्षण होगा यह जन्म धन्य दिन कल का होगा मंगलमय,
यदि समर भूमि में खेत रहा जीवन हो जाएगा यशमय।

⊠ ⊠

लेकिन करतल पर झुक आनन सहसा ही शांत उदास बना,
मानो क्षण भर में प्रखर सूर्य मानस नभ में खग्रास बना।
जैसे सागर में उठा ज्वार, बढ़ते-बढ़ते ही उतर गया,
दुर्धर्ष वीर रस का निर्भर झरता झरता ज्यों ठहर गया।

⊠ ⊠

तब कहा उत्तरा ने रखकर चौकी पर पूजा की थाली,
हे नाथ क्षमा हो लेकिन इस दासी ने बाधा है पाली।
आत्मज मुख का दर्शन करने की इच्छा है स्वामी मन में,
दासी सब समझ गई लेकिन यदि गए नहीं प्रियतम रण में।

× ×

लाखों ही ऐसे लालों के बिन देखे मुख रह जाएंगे,
लाखों ही पुत्र पिता पद के दर्शन न कभी कर पाएंगे।
आप कुसुम कलियां वेणी पर गूंथ नाथ हर्षाते हो,
मेरी मांगों की रेखा पर सस्मित सिन्दूर सजाते हो।

× ×

ऐसी अगणित मांगों में प्रिय सिन्दूर नहीं तब रज होगी,
दर्पण उनसे मुख मोड़ेंगे, सुमनों से चिर अनबन होगी।

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

मेरी काजल की रेखा पर स्वीकार पराजय कर स्वामी,
धनु बाण समर्पित कर मुझको, बनते हो स्वामी अनुगामी।

× ×

ऐसी कितनी ही रेखाएं आंसू से घुल मिट जाएंगी,
अपने सपनों से तब शत शत सौभाग्यवती लुट जाएंगी।
मेरी यह इच्छा थी शुभ दिन यह आज नहीं बस कल होता,
नारी तो आखिर है नारी यह हृदय न फिर व्याकुल होता।

× ×

अपशकुन हो रहे आज मुझे, बस इस ही का भय है मन में,
सर्वस्व आप ही तो मेरे, अन्यथा धरा क्या जीवन में।
लेकिन यदि तुमको रोक आज अपना सौभाग्य बचा लूंगी,
लाखों के उजड़ेंगे सुहाग मैं कितना पाप कमा लूंगी।

× ×

मेरे एकाकी दुःख से यदि, सौ-सौ जीवन सानंद रहें,
स्वीकार मुझे है नाथ किन्तु दासी को निठुरा नहीं कहें।
यदि आप नहीं लौटे रण से मैं सती नहीं हो पाऊंगी,
उदरस्थ धरोहर को स्वामी मैं नष्ट नहीं कर पाऊंगी।

× ×

विश्वास रखो पर नाथ इसे तुम जैसा मैं ही बना दूंगी,
क्षत्राणी हूं इसके हाथों ही रिपुओं से मैं बदला लूंगी।
'जाओ हे मेरे जीवन धन' इतने में मौन हुई वाणी,
नयनों में भर आया सावन बोले प्रिय 'यह क्या कल्याणी।'

× ×

भर लिया अंक में प्रियतम ने क्षण भर यह अन्तिम सुख लूटा,
पी लिया सिंधु खारा कुंभजन, मोहजाल पल में टूटा।
शिरत्राण, बाण, तूणीर कवच, तलवार धनुष सब ले आई,
अपने हाथों से सजा उन्हें पति को निरखा फिर मुस्काई।

× ×

केसर कुंकुम का तिलक लगा आरती उतारी हरषाई,
मुख पर मुस्कान नयन में जल जयमाला प्रिय को पहनाई।
फिर झुक कर पति के चरण छुए नयनों ने उनको अर्घ्य दिया,
गूंजा नभ में फिर शंखनाद प्रिय ने रण को प्रस्थान किया।

—गौरीशंकर आर्य

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

संस्थान के नए प्रकाशन

१. आर्याभिविनय

काव्यमय व्याख्या सजिल्द २.५० अजिल्द १.५०

२. उपदेश मंजरी

महर्षि के पूना व्याख्यानों का संग्रह मूल्य १.५०

३. प्रभु के चरणों में

पं० हरिशरण सिद्धान्तालंकार मूल्य १.५०

४. आदर्श परिवार

पं० जुगल किशोर चतुर्वेदी
(विवाह पर बाँटने योग्य पुस्तक) मूल्य ६० पैसे

५. धर्म-सार

स्व० पं० गंगाप्रसाद जी की अनमोल रचना साधारण
जनता में प्रचार के लिए मूल्य १ रु०

६. संस्कार विधि

बड़ा साईज अजिल्द मूल्य ४ रु०

७. धरती का स्वर्ग

पं० शिवकुमार जी शास्त्री (सदस्य लोक सभा) १.५०

शीघ्र मंगाइए

दयानन्द संस्थान नई दिल्ली-११०००५

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

आर्यसमाज स्थापना-शताब्दी-वर्ष पर विशेष लेख

शैक्षिक आलोक : महर्षि दयानन्द और आर्यसमाज का योगदान

—प्रो० प्रेमचन्द्र गुप्त, शास्त्री, एम० ए०,

महर्षि दयानन्द सरस्वती वैदिक वाङ्मय, धर्म, संस्कृति एवं दर्शन के मनीषी, वेदों और आर्षग्रन्थों के समर्थक, आर्यसमाज के संस्थापक, धर्म-प्रचारक, प्रसारक एवं संशोधक, समाज सुधारक तथा देशोद्धारक, राष्ट्रीयता, राष्ट्रीय चेतना और जागरण के प्रेरक तथा राष्ट्र भाषा हिन्दी के उद्धारक के रूप में अधिक प्रसिद्ध हैं। उनके ये विचार आज एक ओर उनके ग्रन्थों में पढ़ने को मिलते हैं तो दूसरी ओर आर्यसमाज और उसके कार्यों में देखने को मिलते हैं।

स्वामी जी वेदों के अपूर्व विद्वान् और मर्मज्ञ थे। उन्हें वैदिक दर्शन ही मान्य था। वैदिक दर्शन स्वयं में भिन्नताओं का योग है—द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत और बहुत्ववाद आदि सभी वैदिक दर्शन हैं। अतएव उन्होंने वैदिक दर्शन के मूल तत्त्वों की व्याख्या भी की है।

महर्षि दयानन्द के दार्शनिक विचार

स्वामी जी ईश्वर, जीव और प्रकृति को अनादि मानते थे। उनके अनुसार 'ईश्वर' सच्चिदानन्दादि लक्षणयुक्त है। उसके गुण, कर्म और स्वभाव पवित्र हैं। वह सर्वज्ञ, निराकार, सर्व व्यापक, अजन्मा, अनन्त, सर्वशक्तिमान्, दयालु, न्यायकारी, सृष्टि का कर्त्ता-धर्त्ता-हर्त्ता और जीवों को सत्य न्याय से फलदाता आदि लक्षणयुक्त है तथा उसके ब्रह्म, परमात्मादि नाम हैं।

'जीव' अनेक, नित्य एवं ईश्वर से भिन्न एक परिच्छिन्न चेतन पदार्थ है, जो अल्पज्ञ, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख-दुख एवं ज्ञानादि गुणयुक्त है।

'प्रकृति' जड़ पदार्थ और जगत् बनाने की सामग्री है, जो नाना द्रव्यों के रूप में दिखाई पड़ती है।

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

'पदार्थ' दो प्रकार के होते हैं—नित्य और अनित्य। ईश्वर, जीव, प्रकृति तीनों 'नित्य' पदार्थ हैं क्योंकि इनका न आदि है न अन्त है। जगत् स्वरूप से 'अनित्य' है, क्यों कि यह उत्पन्न होकर नियत काल तक रह कर विनष्ट हो जाता है।

ईश्वर की उपर्युक्त व्याख्या के कारण कुछ विद्वानों के अनुसार स्वामी जी अद्वैतवादी, जीव को ईश्वर से भिन्न मानने के कारण द्वैतवादी तथा ईश्वर जीव प्रकृति को अनादि मानने के कारण त्रैतवादी थे।

'सृष्टि-रचना' के विषय में भी स्वामी जी के विचार औरों से भिन्न थे। वे 'ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता तथा मुख्य निमित्त कारण, 'प्रकृति' को सृष्टि-निर्माण-सामग्री और उपादान कारण, 'जीवात्मा' को साधारण निमित्त कारण मानते थे। उनके अनुसार ईश्वर सर्वशक्तिमान् है, उसमें उत्पादक और विनाशक दोनों शक्तियां स्वाभाविक अर्थात् अनादिकाल से हैं। वह अपनी इसी स्वाभाविक शक्ति से जगत् का सृजन, पोषण और नियमन करता है। "ईश्वर ही जीवात्मा की शक्तियों के पूर्ण विकास अर्थात् उसके कर्मों के फल-भोग और परमानन्द (मुक्ति) की प्राप्ति-हेतु सृष्टि की रचना करता है।"

स्वामी जी के अनुसार मनुष्य जीवन का अन्तिम उद्देश्य 'मुक्ति' है। 'मुक्ति' से उनका तात्पर्य जीवात्मा को इस भौतिक शरीर से छुटकारा दिलाना है। जीवात्मा इस भौतिक संसार में ही सांसारिक सुख-दु:खों का भोग करता है। इससे मुक्त होने पर ही वह सुखरूप परमेश्वर को प्राप्त होकर 'मुक्ति' के आनन्द को भोगता है। मुक्ति के साधनों में वे नैतिक गुणों के विकास अर्थात् स्तुति, प्रार्थना, उपासना, धर्माचरण, सत्संग, तीर्थसेवन, परोपकार, पुण्य कर्म तथा दुष्ट कर्मों से अलग रहने आदि पर अधिक बल देते थे।

'मुक्ति' के इन साधनों की व्याख्या भी उन्होंने अपने ढंग से 'आर्योद्देश्य रत्नमाला' और 'सत्यार्थ प्रकाश' के अन्तर्गत 'स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश' में की है। उनके अनुसार 'स्तुति' का तात्पर्य ईश्वर के गुणों का ज्ञान, कथन और श्रवण करना है, जिससे ईश्वर में प्रीति और उसके गुण, कर्म, स्वभाव से अपने गुण, कर्म और स्वभाव को सुधारने का फल होता है। 'प्रार्थना' का अभिप्राय उत्तम कार्यों की सिद्धि के लिए अपने पूर्ण पुरुषार्थ के उपरांत ईश्वर के अधीन होना है। 'उपासना' का अर्थ ईश्वर के ही आनन्द स्वरूप में अपनी आत्मा को लीन कर देना है। तीर्थ-सेवन' का तात्पर्य विद्याभ्यास, सुविचार, ईश्वरोपासना, धर्मानुष्ठान, सत्संग, ब्रह्मचर्य, इन्द्रिय-निग्रह आदि उत्तम कर्म करना है। 'परोपकार' का आशय दूसरे प्राणियों के

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

सुख हेतु तन, मन, धन अर्थात् सम्पूर्ण सामर्थ्य से कार्य (प्रयत्न) करना है। 'पुण्य कर्म' का अर्थ विद्यादि शुभ गुणों का दान, सत्यभाषण तथा सद्व्यवहार करना है।

स्वामी जी 'पुनर्जन्म' में विश्वास करते थे। उनके अनुसार जीव अपने कर्मानुसार नाना योनियों में अनेक बार जन्म लेता है। वे स्वर्ग-नरक को लोक अथवा स्थान विशेष नहीं मानते थे। वे जीव को उसके पुण्य कर्म के फलस्वरूप विशेष सुख और सुख-सामग्री प्राप्त होना ही 'स्वर्ग' मानतेथे। इसी प्रकार दुष्ट(पाप)कर्म के फलस्वरूप विशेष दुःख और दुःख-सामग्री प्राप्त होना 'नरक' कहते थे।

इस प्रकार उनके विचार बहुतत्त्ववादी थे, क्योंकि कि वे ईश्वर, अनेक जीव तथा अनेक पदार्थ को मूल तत्त्व मानते थे। 'प्रकृति' को मूलतत्त्व मानने के कारण कुछ चिंतक इन्हें प्रकृतिवादी, 'पदार्थ' के अस्तित्व को स्वीकार करने के कारण यथार्थवादी और 'भौतिक जीवन' की सुरक्षा हेतु कर्म प्रवृत होने एवं समाज-सुधार करने के कारण व्यवहारवादी कहते हैं, किंतु वास्तविकता कुछ और ही है। स्वामी जी की आस्था आत्मा और परमात्मा में थी। वे मानव-जीवन के अन्तिम उद्देश्य 'मुक्ति' को स्वीकार करते थे, इसलिए वे आदर्शवादी थे। भारतीय आदर्शवाद तो भौतिक संसार को भी सत्य मानता है और सामाजिक सुधार मनुष्य का नैतिक कर्त्तव्य बताता है। हां, प्रत्ययवादी (विचारवादी)अवश्य ही पदार्थ की सत्ता स्वीकार नहीं करते हैं और संसार को केवल विचारजन्य अभिव्यक्ति ही मानते हैं। अतः यह कहना अधिक समीचीन होगा कि जीवन के प्रति स्वामी जी का दृष्टिकोण विशुद्ध आदर्शवादी था।

महर्षि दयानन्द के शैक्षिक विचार

वैदिक दर्शन की विवेचना, धर्म-प्रसार और समाज-सुधार के साथ-साथ शिक्षा के क्षेत्र में भी महर्षि दयानन्द और आर्यसमाज का विशेष योग-दान है। इनकी उपलब्धियों का विशेष स्थान है।

स्वामी जी प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति के प्रबल समर्थक और अंग्रेजी शिक्षा पद्धति के घोर विरोधी थे। वे बालक को शीघ्रातिशीघ्र ज्ञानी बनाने के पक्ष में थे। इसलिए उन्होंने 'आचार्य कुल' और 'गुरुकुल' पद्धति को पुनर्जीवित कर प्राचीन परम्परानुसार वेद, उपनिषद्, स्मृतियों तथा अन्य जीवनोपयोगी ज्ञान-विज्ञान एवं कौशलों की शिक्षा की आवश्यकता पर बल दिया। इसको व्यावहारिक रूप देने हेतु ही उन्होंने ज्येष्ठ सं० १९२५ में कासगंज (फरूखाबाद) में तथा पौष सं० १९२५ में फरूखाबाद में संस्कृत पाठशाला, ज्येष्ठ सं० १९२७ में मिर्जापुर में वैदिक पाठशाला, पौष सं० १९३० में केदारघाट, काशी में सत्यशास्त्र पाठशाला तथा आषाढ़

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

स० १९३१ में काशी में आर्य विद्यालय आदि स्थापित किया।

लार्ड मैकाले ने जिस अंग्रेजी शिक्षा पद्धति के सहारे भारतीयों के मन और मस्तिष्क को सदा के लिए दास बनाने का षड्यंत्र रचा था, स्वामी जी द्वारा स्थापित आर्यसमाज ने अपने गुरुकुल, डी० ए० वी० स्कूल-कालेज और आर्य-हरिजन पाठशाला खोलकर मैकाले की योजना को असफल कर दिया। आधुनिक भारतीय शिक्षा में गुरुकुल पद्धति के जन्मदाताओं में स्वामी श्रद्धानन्द और स्वामी दर्शनानन्द तथा दयानन्द ऐंग्लो वैदिक स्कूलों-कालेजों के जन्मदाताओं में महात्मा हंसराज और लाला लाजपतराय प्रमुख थे। ब्रिटिश शासन से अनुदान प्राप्त किए बिना ही भारत-भर में फैली इन शिक्षण संस्थाओं पर आर्यसमाज प्रति वर्ष उस समय २० लाख रुपया व्यय करता था। आज तो इन संस्थाओं का आय-व्यय करोड़ से भी अधिक हो गया है। इन संस्थाओं में आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की उच्च-शिक्षा, धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा, हिन्दी माध्यम, सामाजिक क्रांति और राष्ट्रीय जागरण आदि अनेक विशेषताएँ रहीं है। भारत से बाहर प्रवासी भारतीयों में भी वैदिक संस्कृति को अक्षुण्ण बनाए रखने हेतु ऐसी ही शिक्षण संस्थाओं को स्थापित कर आर्यसमाज ने अपने अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप को और भी स्पष्ट किया।

गुरुकुल पद्धति के गुरु-शिष्य सम्बन्ध, नैतिक एवं संयत जीवन, सदाचार, आध्यात्मिकता, स्वतंत्रता, समानता, निर्भीकता, सहिष्णुता, स्वराष्ट्र, स्वभाषा, विश्वबन्धुत्व, सत्य, अहिंसा और शांति आदि अनेक तत्त्व, जिनका नेतृत्व शिक्षा में आर्यसमाज ने किया, उनका मूल स्रोत महर्षि दयानन्द की शैक्षिक विचार धारा थी। स्वामी जी के शैक्षिक विचारों को निम्नलिखित शीर्षकों के अंतर्गत स्पष्ट किया जा सकता है:—

१—शिक्षा का अर्थ

स्वामी जी ज्ञान और शिक्षा में भेद नहीं मानते थे। उनके अनुसार वह ज्ञान जिससे ब्रह्म, जीवात्मा और पदार्थों के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होता है तथा मनुष्य का ऐहिक एवं पारलौकिक—दोनों प्रकार का कल्याण होता है, शिक्षा है। वे शिक्षा को परिभाषित करते हैं—"जिससे विद्या, सभ्यता, धर्मात्मता, जितेन्द्रियता आदि की वृद्धि हो और अविद्या आदि दोष नष्ट हों, उसको शिक्षा कहते हैं।" इसी प्रकार "व्यवहारभानु" में एक प्रश्न का उत्तर देते हुए वे कहते हैं—'जिससे मनुष्य विद्यादि शुभ गुणों की प्राप्ति और अविद्यादि दोषों को छोड़कर सदा आनन्दित हो सके, वह शिक्षा है।" स्वामी जी ने शिक्षा के लिए कहीं-कहीं 'विद्या' शब्द का भी प्रयोग किया है। उनके शब्दों में "विद्याविलासमनसो धृतशील-

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

शिक्षा" अर्थात् विद्या में विलास करने वाले मन का निर्माण करना शिक्षा है। वे 'विद्या' को भी परिभाषित करते है—"वेत्ति यथावत्तत्त्व पदार्थस्वरूपं यया सा विद्या।" अर्थात् जिससे पदार्थों का यथार्थ स्वरूप बोध हो, वह विद्या है। इसी प्रकार 'विद्या' और 'अविद्या' का अन्तर समझाते हुए लिखते हैं—'जिससे पदार्थ का यथार्थ स्वरूप जानकर उससे उपकार लेकर अपने और दूसरों के लिए सब सुखों को सिद्ध कर सकें, वह विद्या और जिससे पदार्थों के स्वरूप को उल्टा जान कर अपना और पराया अनुपकार करें, वह अविद्या कहलाती है।" वे 'विद्या' की व्याख्या एक अन्य ग्रन्थ में भी करते हैं—"जिससे ईश्वर से लेकर पृथ्वी-पर्यन्त पदार्थों का सत्य ज्ञान होता है तथा उनसे यथा योग्य उपकार लेना होता है, उसका नाम विद्या है।" इस प्रकार ब्रह्म, जीवात्मा, और पदार्थ के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान विद्या है और इन्हें अन्यथा जानना अविद्या है। विद्या से कल्याण और अविद्या से विनाश होता है।

२—शिक्षा का उद्देश्य

स्वामी जी शिक्षा द्वारा यदि एक ओर व्यक्ति को भौतिक (लौकिक) जीवन के लिए तैयार करना चाहते थे, तो दूसरी ओर उसे पारलौकिक जीवन के लिए अग्रसर भी करना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने जिन विचारों को अभिव्यक्त किया है उससे हम निम्नलिखित रूपों में शिक्षा-उद्देश्यों को क्रमबद्ध कर सकते हैं।

(अ) ज्ञान के विकास का उद्देश्य

स्वामी जी के अनुसार ज्ञान दो प्रकार का होता है—एक यथार्थ ज्ञान, और दूसरा सद्ज्ञान। वे यथार्थ ज्ञान के अन्तर्गत भौतिक जगत् सम्बन्धी ज्ञान और सद् ज्ञान के अन्तर्गत ब्रह्म और जीवात्मा सम्बन्धी ज्ञान मानते थे। चूंकि वे भौतिक जगत् की यथार्थता स्वीकार करते थे, इसलिए वे सर्वप्रथम यथार्थ ज्ञान अर्थात् वस्तु-जगत् का ज्ञान प्राप्त करने को कहते थे। इस ज्ञान के अन्तर्गत वे पदार्थों का वास्तविक ज्ञान और मानव-कल्याण की दृष्टि से उनका प्रयोग, व्यावहारिक शिक्षा तथा आनन्ददायक क्रियाओं को महत्त्व प्रदान करते थे।

'सद्ज्ञान' को वे भौतिक जीवन को सुखमय बनाने के लिए आवश्यक मानते थे। उनके अनुसार "सद्ज्ञान वह है, जिसके द्वारा ईश्वर और मोक्ष की प्राप्ति होती है।" सद्ज्ञान के अभाव में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष किसी की भी प्राप्ति संभव नहीं है। इसलिए वे सद्ज्ञान को ही शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य मानते थे।

(ब) शरीरिक विकास का उद्देश्य

'शरीरमाद्यं खलु धर्म-साधनम्।' सुश्रुत के इस विचार को स्वामी जी

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

भी स्वीकार करते थे और बालक का शरीरिक विकास करना शिक्षा का उद्देश्य मानते थे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने ब्रह्मचर्य-पालन, व्यायाम, खेल-कूद और यौगिक क्रियाओं पर विशेष बल दिया है।

'ब्रह्मचर्य' के महत्त्व पर उन्होंने स्पष्ट, लिखा है—"जिसके शरीर में सुरक्षित वीर्य रहता है, उसको आरोग्य, बुद्धि, बल, पराक्रम और अन्य सुखों की प्राप्ति होती है।............जिसके शरीर में वीर्य नहीं होता, वह नपुंसक, महा कुलक्षणी और जिसको प्रमेह रोग होता है, वह दुर्बल, निस्तेज, निर्बुद्धि, उत्साह, साहस, धैर्य, बल, पराक्रमादि गुणों से रहित होकर नष्ट हो जाता है।"

(स) सामाजिक विकास का उद्देश्य

स्वामी जी व्यक्ति के वैयक्तिक और सामाजिक विकास पर समान बल देते थे। इन दोनों का स्पष्ट संकेत उनके द्वारा निर्मित आर्य समाज के ६ठें, ७वें, ६वें और १०वें नियम में भी मिलता है। ६वें नियम में कहा गया है—"प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट न रहना चाहिए किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।" स्वामी जी के समय में समाज अनेक अंध विश्वासों एवं कुरीतियों से जर्जर हो रहा था, अतएव वे शिक्षा द्वारा व्यक्ति में ऐसी शक्ति का विकास करना चाहते थे, जिससे शारीरिक, आत्मिक एवं सामाजिक उन्नति सम्भव हो सके। इसीलिए उन्होंने व्यक्ति के लिए व्यक्तिगत कल्याण के साथ-साथ समाज-कल्याण के उद्देश्य को भी निश्चित किया था।

(द) सद्गुणों के विकास का उद्देश्य

स्वामी जी सैद्धांतिक ज्ञान को व्यर्थ मानते थे। वे ज्ञान द्वारा सद्गुणों अर्थात् कर्मशीलता, चरित्र, सदाचार, परोपकार और सत्यता आदि के विकास पर अत्यधिक बल देते थे। वे कहते थे कि सद्गुणों से युक्त मनुष्य ही अपना तथा समाज का कल्याण कर सकता है। उनके सभी ग्रन्थों में इस गुण के विकास पर बल दिया गया है। उन्होंने 'वाणी' के संयत प्रयोग पर लिखा है "क्रोधादि दोष और कटुवचन को छोड़ शांत और मधुर वचन ही बोलें और बहुत बकवाद न करें। जितना बोलना चाहिए –उससे न्यून या अधिक न बोलें।" उचित अभिवादन के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा—"बड़ों को मान्य दें। उनके सामने उठकर प्रथम 'नमस्ते' करें, फिर उच्चासन पर बिठावें।" इसी प्रकार, सभा या गोष्ठी में बैठने के ढंग पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने लिखा— "सभा में अपनी योग्यतानुसार स्थान पर ही बैठें, दूसरे किसी को न उठावें। विरोध किसी से न करें।"

३—शिक्षा की पाठ्यचर्या

स्वामी जी प्राचीन जीवन शैली और आश्रम व्यवस्था में विश्वास करते थे,

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

इसलिये उन्होंने कम से कम २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्य-पालन और शिक्षा-ग्रहण करने की व्यवस्था दी है। उन्होंने बच्चे की शिक्षा के लिए अविधिक और सविधिक दोनों साधनों को उत्तरदायी ठहराया है। "मातृमान् पितृमानाचार्यवान् पुरुषो वेद।" 'शतपथ ब्राह्मण' के इस कथन में वे विश्वास करते हुए कहते हैं— "जब तीन उत्तम शिक्षक अर्थात् एक माता, दूसरे पिता और तीसरा आचार्य हो, तभी मनुष्य ज्ञानवान् होता है। वह कुल धन्य, है, वह सन्तान बड़ा भाग्यवान् है, जिसके माता-पिता धार्मिक और विद्वान् हैं।" उनके द्वारा प्रस्तावित समस्त पाठ्यचर्या को निम्नांकित शीर्षकों में रखा जा सकता है—

(अ) गर्भाधान काल : गर्भ स्थिति से जन्म तक

स्वामी जी के अनुसार बालक की शिक्षा गर्भाधान के समय से ही आरम्भ हो जाती है, इसलिए जन्म से पूर्व की शिक्षा का समस्त दायित्व प्रत्यक्ष रूप से माता और अप्रत्यक्ष रूप से परिवार पर है। वे कहते हैं—"प्रशस्ता धार्मिकी माता विद्यते यस्य स मातृमान्" अर्थात् धन्य है वह माता, जो गर्भाधान से लेकर शिक्षा की समाप्ति तक सुशीलता का उपदेश करती है।

गर्भाधान के पश्चात् माता को सात्विक भोजन और पुरुष के संसर्ग से दूर रह कर धर्माचरण करना चाहिए। बुद्धि, बल, रूप, आरोग्य, पराक्रम शांति आदि द्रव्यों का सेवन करना चाहिए।

(ब) शैशव काल : जन्म से ५ वर्ष तक

स्वामी जी के अनुसार इस काल में माता बच्चे के उचित लालन-पालन के साथ-साथ उसकी शिक्षा की व्यवस्था मुख्य रूप से स्वयं करे, किन्तु सम्पूर्ण परिवार सहयोगी हो। इस काल में स्वामी जी ने केवल उचित आदतों के निर्माण, शुद्धाचरण तथा भाषा विकास की शिक्षा को ही स्थान दिया है। माता बालक के शुद्धोच्चारण, सुन्दर एवं मधुर वाणी में वार्तालाप, उठने-बैठने एवं खड़े होने के उचित ढंग और आसन तथा व्यावहारिक आचरण पर विशेष ध्यान दे।

(स) पूर्व बाल्यकाल: ५ से ८ वर्ष तक

स्वामी जी ने इस काल की शिक्षा का दायित्व प्रत्यक्ष रूप से पिता और आचार्यकुल (पाठशाला) पर रखा। इस काल की पाठचर्या में उन्होंने देव नागरी तथा अन्य देशीय भाषाओं के वर्णों की शिक्षा; नीतिपरक, शिक्षाप्रद एवं ईश्वर से सम्बन्धित मन्त्र, श्लोक, सूत्र, गद्य एवं पद्य अर्थसहित कंठस्थ करने की शिक्षा, उचित एवं शुद्धोच्चारण की शिक्षा, विद्या और धर्म के विपरीत भ्रांति जाल में गिराने वाले धूर्तों के विरुद्ध उपदेश तथा भूत-प्रेतादि मिथ्या बातों के विरुद्ध उपदेश इत्यादि रखा है।

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

गुरुकुलीय पाठ्यचर्या अर्थात् ८ से २५ वर्ष तक की सविधिक शिक्षा योजना

स्वामी जी के अनुसार यह 'विद्याभ्यास काल' है। इस काल में उपनयन संस्कार के पश्चात् बालक-बालिकाओं की शिक्षा पाठशाला, आचार्य कुल अथवा गुरुकुल में होनी चाहिए। स्वामी जी ने इस काल की पाठ्यचर्या की विस्तृत रूप-रेखा तैयार की है, जिसे निम्नांकित वैकासिक चरणों में क्रमबद्ध किया जा सकता है :—

(द) उत्तर बाल्यकाल: ८ से १२ वर्ष तक

(१) ब्रह्मचर्य-पालन, (२) संध्योपासन अर्थात् ब्रह्मयज्ञ, (३) प्राणायाम एवं योगाभ्यास, (४) देवयज्ञ अर्थात् अग्निहोत्र, (५) गृह में माता-पिता द्वारा प्रदत्त शिक्षा की पुनरावृत्ति, (६) व्यवहार एवं आचरण की शिक्षा (७) पाणिनि कृत शिक्षा अर्थात् उच्चारण शास्त्र, (८) अष्टाध्यायी एवं महाभाष्य अर्थात् व्याकरण।

(य) पूर्व किशोरावस्था : १२ से १५ वर्ष तक

(१) महर्षि यास्क कृत निघण्टु और निरुक्त अर्थात् वैदिक भाषा कोश (२) पिंगलाचार्य कृत छन्दोग्रन्थ अर्थात् छन्द:शास्त्र (३) मनुस्मृति, वाल्मीकि रामायण, तथा महाभारत के उद्योग पर्वान्तर्गत विदुरनीति आदि धर्म शास्त्र (४) ऋषि कृत व्याख्या सहित पूर्व मीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य और वेदांत अर्थात् षड्-दर्शन, परन्तु वेदांत दर्शन के पूर्व दश उपनिषद्-ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छांदोग्य और बृहदारण्य की शिक्षा।

(र) उत्तर किशोरावस्था: १५ से २१ वर्ष तक

(१) वेद—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद, (२) चार ब्राह्मण—ऐतरेय, शतपथ, साम, गोपथ का स्वर, शब्द, अर्थ सम्बन्ध तथा क्रियासहित अध्ययन।

(ल) परिपक्वावस्था: २१ से २५ वर्ष तक

इस काल में स्वामी जी ने भौतिक दृष्टि से उपयोगी विषयों की विशेष शिक्षा के लिए पाठ्यक्रम प्रस्तावित किया है, जिसे प्रत्येक शिक्षार्थी अपनी रुचि एवं आवश्यकतानुसार चुनेगा—(१) चरक, सुश्रुत आदि ऋषि प्रणीत आयुर्वेद अर्थात् वैद्यक शास्त्र का अर्थ, क्रिया, शस्त्र छेदन, भेदन, लेपन, चिकित्सा, निदान, औषधि, पथ्य, शरीर, देश, काल और वस्तु के गुण सहित अध्ययन (२) अर्थशास्त्र अर्थात् राजनीति शास्त्र, विधि शास्त्र एवं प्रशासन (३) धनुर्वेद अर्थात् युद्ध विद्या एवं सैन्यशिक्षा (४) गान्धर्व वेद एवं नारद संहिता अर्थात् नृत्य, वाद्य एवं गान-

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

विद्या (५) अथर्ववेद अर्थात् विज्ञान एवं शिल्प विद्या (६) ज्योतिष शास्त्र एवं सूर्य सिद्धांत आदि अर्थात् अंकगणित, बीजगणित, भूगोल, खगोल और भूगर्भ शास्त्र (७) हस्तकला (८) यन्त्र कला आदि।

४—शिक्षण विधि

स्वामी जी ने शिक्षण विधि और अध्ययन विधि में कोई विशेष अन्तर नहीं किया है। उन्होंने इस क्षेत्र में प्रायः वैदिक विधियों का ही समर्थन किया है। उनके अनुसार उपदेश अथवा व्याख्यान विधि, निरीक्षण विधि, तर्क विधि, स्वाध्याय विधि और व्यावहारिक विधि आदि उपयोगी शिक्षण विधियां हैं। व्यावहारिक विधि से उनका तात्पर्य प्रायौगिक प्रशिक्षण से है, जो विविध कौशलों की शिक्षा में उपयोगी होता है। उन्होंने 'सत्यार्थ प्रकाश' के तृतीय समुल्लास के अन्तर्गत पृ० ४१ पर 'तैत्तिरीय उपनिषद्' का प्रमाण प्रस्तुत करते हुए पठन-पाठन का नियम निर्धारित किया है—"(ऋतं ··) यथार्थ आचरण से; (सत्यं ·) सत्याचार से, (तपः···) धर्मानुष्ठान करते हुए, (दमः···) बाह्य इन्द्रियों को बुरे आचरणों से रोक कर, (शमः ·) मन की वृत्तियों को सभी दोषों से हटाकर,(अग्नयः···) आहवनीयादि अग्नि और विद्युत् को जान कर, (अग्निहोत्र···) अग्निहोत्र करते हुए, (अतिथयः···) अतिथियों की सेवा करते हुए, (मानुषं ··) मनुष्य सम्बन्धी व्यवहारों को यथायोग्य करते हुए, (प्रजा ··) संतान और राज्य का पालन करते हुए, (प्रजन···) वीर्य की रक्षा और वृद्धि करते हुए तथा (प्रजाति···) अपने संतान और शिष्य का पालन करते हुए पठन-पाठन करें।"

इसी प्रकार 'व्यवहारभानु' में 'विद्या किस प्रकार और किन-किन कर्मों से आती है? प्रश्न का उत्तर देते हुए वे कहते है—"चतुर्भिः प्रकारैर्विद्योपयुत्ता भवति। आगमकालेन स्वाध्यायकालेन प्रवचनकालेन व्यवहारकालेनेति ॥" अर्थात् विद्या चार प्रकार से आती है—आगम, स्वाध्याय, प्रवचन और व्यवहार काल। इसी प्रकार विद्या प्राप्ति के लिए चार कर्म भी हैं—श्रवण, मनन, निदिध्यासन और साक्षात्कार। वे इसी पुस्तक में आचार्य की शिक्षण रीति पर विचार करते हुए कहते हैं—"आचार्य समाहित होकर ऐसी रीति से विद्या और सुशिक्षा करे कि जिससे उसके (विद्यार्थी) आत्मा के भीतर सुनिश्चित अर्थ होकर उत्साह बढ़ता जाय। ······दृष्टांत, हस्तक्रिया, यन्त्र, कलाकौशल, विचार आदि से विद्यार्थियों के आत्मा में पदार्थ इस प्रकार साक्षात् करावें कि एक के जानने से हजारों पदार्थ यथावत् जानते जायें।"

५—अनुशासन एवं दण्ड

स्वामी जी ने अनुशासन के महत्त्व पर अधिक बल दिया है। वे आचार्य और अन्तेवासी (शिक्षार्थी) दोनों से अनुशासन में रहने की अपेक्षा करते थे। उनके

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

अनुसार असंयत जीवन व्यतीत करने वाले शिक्षार्थियों को दण्ड देकर उचित मार्ग पर लाना चाहिए। वे 'व्याकरण महाभाष्य' का उद्धरण—"सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः। लालनाश्रयिणो दोषास्ताडनाश्रयिणो गुणाः।" (अ० ८। १। ८) प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—'जो माता-पिता और आचार्य संतान और शिष्यों का ताड़न करते हैं वे उनको अमृत पिला रहे हैं और जो लाड़न करते हैं वे विष, क्यों कि लाड़न से सन्तान और शिष्य दोषयुक्त तथा ताड़न से गुणयुक्त होते हैं। सन्तान और शिष्य भी ताड़न से प्रसन्न और लाड़न से सदा अप्रसन्न रहा करें। परन्तु माता-पिता और आचार्य ईर्ष्याद्वेष से ताड़न न करें। वे ऊपर से भय और भीतर से कृपादृष्टि रखें।"

यही नहीं 'स्वानुशासन' (Self-discipline) के किए मनुस्मृति के आधार पर उन्होंने 'यम-नियमों' के महत्त्व को भी स्वीकार किया है। वे 'योगदर्शन' में वर्णित यम-नियमों को परिभाषित भी करते हैं—'अहिंसा' अर्थात् वैरत्याग, 'सत्य' अर्थात् सत्य मानना, बोलना और करना, 'अस्तेय' अर्थात् मन, वचन और कर्म से चोरी का त्याग, 'ब्रह्मचर्य' अर्थात् उपस्थेन्द्रियका संयम, 'अपरिग्रह' अर्थात् लोलुपता और स्वत्वाभिमान रहित होना आदि—ये पांच यम और 'शौच' अर्थात् स्नानादि से पवित्रता, 'सन्तोष' अर्थात् सम्यक् प्रसन्न होकर पुरुषार्थ करना, हानि-लाभ में शोक व हर्ष न करना, 'तप' अर्थात् कष्ट सहकर भी धर्मयुक्त कर्मों को करना, 'स्वाध्याय' अर्थात् पढ़ना-पढ़ाना, 'ईश्वर प्रणिधान अर्थात् ईश्वर की भक्ति विशेष में आत्मा को अर्पित करना आदि—ये पांच नियम हैं। इस प्रकार, स्वामी जी कठोर अनुशासन और स्वानुशासन के पक्षपाती थे।

आचार्य और शिष्य—

स्वामी जी ने 'गुरु' शब्द को व्यापक और 'आचार्य' शब्द को संकुचित अर्थों में ग्रहण किया है। वे माता-पिता और आचार्य—तीनों को 'गुरु' मानते हैं—"माता-पिता और जो सत्य को ग्रहण करावे तथा असत्य को छुड़ावे, वह गुरु कहलाता है।" इसी प्रकार अन्यत्र भी लिखते हैं—"जो वीर्यदान से लेकर भोजनादि कराकर पालन करता है, उसको अर्थात् पिता को 'गुरु' कहते हैं और जो अपने सत्योपदेश से हृदय का अज्ञानरूपी अन्धकार मिटाता है उसको अर्थात् आचार्य को भी 'गुरु' कहते हैं।" वे आचार्य शब्द को परिभाषित करते हैं—"जो श्रेष्ठ आचार को ग्रहण कराकर सब विद्याओं को पढ़ावे उसको आचार्य कहते हैं।" इसी प्रकार अन्यत्र भी लिखते हैं—"जो विद्यार्थी को अत्यन्त प्रेम से धर्मयुक्त व्यवहार को शिक्षा-पूर्वक विद्या देने के लिए तन, मन और धन से प्रयत्न करे, उसको आचार्य कहते हैं।" वे विद्यायुक्त धार्मिक आचार्य को ही स्वीकार करते

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

हैं—"जो अध्यापक पुरुष या स्त्री दुष्टाचारी हों, उनसे शिक्षा न दिलावें वरन् जो पूर्ण विद्यायुक्त और धार्मिक हों, वे ही पढ़ाने और शिक्षा देने योग्य हैं।"

उन्होंने 'शिष्य' के विषय में लिखा है—"शिष्य उसको कहते हैं जो सत्य शिक्षा और विद्या को ग्रहण करने योग्य, धर्मात्मा, विद्याग्रहण की इच्छा और आचार्य का सम्मान करने वाला हो।"

गुरु-शिष्य सम्बन्धों पर प्रकाश डालते हुए वे कहते हैं कि आचार्य सत्य ज्ञान का द्रष्टा होता है, उसके अभाव में सत्य का ज्ञान नहीं हो सकता है। इस लिए आचार्य और शिष्य में निकट का सम्बन्ध होना चाहिए। उनके अनुसार शिक्षार्थी गुरु से तभी कुछ सीख सकता है, जब वह सीखने के लिए जिज्ञासु हो, सत्य का पालन एवं शुद्धाचरण करता हो तथा एकाग्रचित्त से अध्ययन की ओर प्रवृत्त हो। 'आचार्य के प्रति विद्यार्थी का कैसा व्यवहार हो?" इस प्रश्न का उत्तर देते हुए वे कहते हैं—"मिथ्या को छोड़कर सत्य बोले, सरल रहे, अभिमान न करे, आज्ञा-पालन करे, स्तुति करे, निन्दा न करे, नीचे आसन पर बैठे, ऊंचे न बैठे, शांत रहे, चपलता न करे। आचार्य की ताड़ना पर प्रसन्न रहे, क्रोध कभी न करे। जब आचार्य कुछ पूछे तो हाथ जोड़ कर, नम्र होकर उत्तर दे, घमण्ड से न बोले। जब वे शिक्षा करें, चित्त देकर सुने, ठट्ठे में न उड़ावे।" निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि 'शिक्षार्थी' को आचार्य के अनुशासन में रहना चाहिए तथा संयत जीवन व्यतीत करना चाहिए और आचार्य को भी शिक्षार्थी को पुत्रवत् समझ व्यवहार करना चाहिए।

७—शिक्षालय और उसका परिवेश

स्वामी जी के अनुसार विद्यालय एकांत स्थान में ग्राम या नगर से चार कोस दूर होना चाहिए। बालकों और बालिकाओं की पाठशाला दो कोस के अन्तर पर हों। बालकों के शिक्षालय में आचार्य, भृत्य और अनुचर आदि सभी पुरुष तथा बालिका-शिक्षालयों में सभी स्त्री ही हों। बालक-बालिकाओं के विद्यालयों में पाँच वर्ष के भी विपरीतलिंगी बालक-बालिका को प्रवेश नहीं करने देना चाहिए।

उनके अनुसार आचार्य, ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी को आठ प्रकार के मैथुन अर्थात् स्त्री व पुरुष के दर्शन, स्पर्शन, एकांत सेवन, वार्तालाप, विषयकथा, परस्पर क्रीड़ा, विषय-ध्यान और संगत से दूर रखें, जिससे वे उत्तम विद्या, शिक्षा, शील, स्वभाव, शरीर और आत्मा से बलयुक्त हो सकें।

शिक्षार्थियों को माता-पिता से मिलने तथा उनसे पत्राचार पर प्रतिबन्ध होना चाहिए, ताकि वे सांसारिक चिंता से दूर रहकर केवल ज्ञानार्जन की ही चिंता पर ध्यान दें। शिक्षार्थियों के शैक्षणिक भ्रमण के साथ आचार्य को अवश्य रहना चाहिए, ताकि वे कुचेष्टा, आलस्य और प्रमाद न करें।"

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

८—नारी शिक्षा

स्वामी जी का विश्वास था कि जहां नारी की पूजा होती है, वहां देवता निवास करते हैं। उन्होंने तत्कालीन सामाजिक कुरीतियों और रूढ़ियों के विरुद्ध आवाज उठायी और अथर्व वेद के एक मन्त्र (ब्रह्मचर्य्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् ।। कां० ११। प्र० २४। अ० ३। मं० १८) के आधार पर सिद्ध किया कि स्त्रियों को भी ब्रह्मचर्य सेवन से वेदादि शास्त्रों को पढ़कर पूर्ण युवावस्था में अपने सदृश पूर्ण युवावस्थायुक्त विद्वान् पुरुष को प्राप्त करने का अधिकार है। यही नहीं, श्रौत सूत्र के एक मन्त्र (इमं मन्त्रं पत्नी पठेत्) के आधार पर उन्होंने यह भी बताया कि प्राचीन भारत की नारियां वेदादि शास्त्रों को पढ़ती रही हैं तथा यज्ञ में सस्वर मन्त्रों का उच्चारण और आवश्यकता पड़ने पर संस्कृत में भाषण करती रहीं हैं। 'शतपथ ब्राह्मण' में विदुषी गार्गी का उल्लेख है, इस लिए उन्होंने नारी शिक्षा की अनिवार्यता घोषित की।

उन्होंने स्त्रियों को पुरुषों की भांति ही शिक्षा देने को कहा है; किन्तु ब्राह्मणी और क्षत्रिया को सब विद्या, वैश्या को व्यवहार विद्या और शूद्रा को पाकादि विद्या अवश्य पढ़नी चाहिए। इसके अतिरिक्त पुरुषों के समान व्याकरण, धर्म, वैद्यक, गणित, शिल्प विद्या आदि भी सीखनी चाहिए, क्योंकि व्याकरण से सत्यासत्य का निर्णय, संतान-पालन और उनकी शिक्षा; वैद्यक शास्त्र में औषधवत् अन्न-पान बनाना और बनवाना; शिल्प विद्या से गृह, वस्त्र और आभूषण आदि बनाना और बनवाना; गणित विद्या से हिसाब-किताब समझना-समझाना तथा वेदादिशास्त्र से ईश्वर और धर्म को जानना आदि संभव है।

९—उदार जनशिक्षा

स्वामी जी उदार जनशिक्षा के समर्थक थे। उन्होंने सभी वर्णों की शिक्षा के महत्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"जब सब वर्णों में विद्या, सुशिक्षा होती है, तब कोई पाखण्ड रूप अधर्म युक्त मिथ्या व्यवहार को नहीं चला सकता।......इस लिए सब वर्णों के स्त्री-पुरुषों में विद्या और धर्म का प्रचार होना चाहिए।"

उन्होंने द्विजों के अतिरिक्त शूद्रों को भी वेदादिशास्त्र पढ़ने तथा ग्रहण करने का अधिकार दिया और इसे वेदसम्मत बताया। इसके लिऐ यजुर्वेद के अध्याय २६, मन्त्र २ (यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्यांँशूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय) की उन्होंने स्पष्ट व्याख्या की—"परमेश्वर कहता है कि हमने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, और अपने भृत्य, स्त्रियादि और शूद्रादि के लिए भी वेदों का प्रकाश किया है, अर्थात् सब मनुष्य वेदों को पढ़-पढ़ा और सुन-सुना कर विज्ञान को बढ़ाकर अच्छी बातों का ग्रहण और बुरी बातों का त्याग करके दुःखों से छूटकर आनन्द को प्राप्त हों।"

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

१०—अनिवार्य शिक्षा और शासन

स्वामी जी अनिवार्य शिक्षा के पक्षपाती थे। वे प्रत्येक माता-पिता का कर्त्तव्य मानते थे कि वे अपने बच्चों की शिक्षा का प्रबन्ध करें। जो अभिभावक ऐसा नहीं करते हैं उनको वे बच्चों का शत्रु कहते हैं। इस विषय में उन्होंने 'चाणक्यनीति' के अध्याय २ का ११वां श्लोक (माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः। न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा) का प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत करते हुए स्पष्ट लिखा है—"वे माता और पिता अपने सन्तानों के पूर्ण वैरी हैं जिन्होंने उनको विद्या की प्राप्ति न कराई, वे विद्वानों की सभा में वैसे तिरस्कृत और कुशोभित होते हैं जैसे हंसों के बीच बगुला।"

उन्होंने 'मनुस्मृति' के अध्याय ७, श्लोक १५२ (कन्यानां सम्प्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम्) के आधार पर सिद्ध किया कि बालक-बालिकाओं को ब्रह्मचर्य में रख कर विद्वान् और शिक्षित कराने का उत्तरदायित्व राजा (शासक) पर है। शासन की आज्ञा हो कि आठ वर्ष पश्चात् कोई भी अभिभावक अपने लड़के अथवा लड़की को घर में न रखकर आचार्य कुल में रखे तथा समावर्तन (दीक्षांत) के पश्चात् ही उनका विवाह करें। वे इस सम्बन्ध में एक अन्य स्थान पर स्पष्ट 'विधान' अर्थात् ऐक्ट की बात भी लिखते हैं। इसमें राजनियम और जातिनियम होना चाहिए कि पांचवें अथवा ८ वें वर्ष से आगे कोई भी अपने लड़के और लड़कियों को घर पर न रख सके। पाठशाला में अवश्य भेज देवें, जो न भेजे वह दण्डनीय हो।

११—निःशुल्क शिक्षा एवं अवसर की समानता

स्वामी जी उदार जनशिक्षा और अनिवार्य शिक्षा के समर्थक होने के साथ ही साथ निःशुल्क शिक्षा के भी पोषक थे। उन्होंने बालक और बालिकाओं की अनिवार्य शिक्षा का उत्तरदायित्व पूर्णरूपेण शासक और शासन पर सौंपा है, इस लिए शासक और शासन का यह स्वाभाविक कर्त्तव्य हो जाता है कि वे राष्ट्र के सभी बालक-बालिकाओं के लिए निःशुल्क शिक्षा का प्रबन्ध करें और उन्हें शिक्षा में अवसर की समानता भी उपलब्ध हो। वे इस सम्बन्ध में पाठशाला और उसकी व्यवस्था पर विचार करते हुए लिखते हैं—"सब को तुल्य वस्त्र खान-पान और आसन दिए जांय—चाहे वे राजकुमार अथवा राजकुमारी हों, चाहे दरिद्र के सन्तान हों।"

१२—कुछ अन्य विचार

(अ) धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा

स्वामी जी धर्म-शिक्षा के बिना सम्पूर्ण शिक्षा को अधूरी मानते थे। उनके अनुसार आचरण से ही धर्म होता है (आचारः परमो धर्मः) इस लिए उन्होंने अपनी शिक्षा-योजना में सर्वत्र शिष्टाचार और धर्माचरण पर बल दिया है।

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

(ब) व्यावसायिक शिक्षा—

स्वामी जी भौतिक जीवन और व्यावहारिक जीवन की सफलता हेतु इस शिक्षा के महत्त्व को स्वीकार करते थे, किन्तु उन्होंने इसका क्षेत्र प्राचीन-चिकित्सा पद्धति, शिल्प एवं यन्त्र कला तथा अन्य कला-कौशलों तक ही सीमित रखा।

(स) सह शिक्षा का विरोध

स्वामी जी सहशिक्षा के कट्टर विरोधी थे, इसलिए उन्होंने बालकों और बालिकाओं के लिए अलग-अलग विद्यालय स्थापित करने की बात कही है, जो नगर या ग्राम से पांच मील दूर हों तथा दोनों में चार मील का अन्तर हो।

१३—महर्षि दयानन्द और आर्यसमाज का शिक्षा में योगदान

स्वामी जी ईश्वरवादी थे और मूर्तिपूजा के विरोधी थे। उन्हें कपोल-कल्पित बातों से चिढ़ थी। उन्होंने धार्मिक अन्धविश्वासों और सामाजिक कुरीतियों को जड़मूल से विनष्ट करने का बीड़ा उठाया, इसके लिए उन्होंने शिक्षा में सुधार करने और भारतीय शिक्षा पद्धति को पुनर्गठित करने का प्रयत्न किया, इसी लिए वे प्राचीन भारतीय शिक्षा-दर्शन के महान् अन्वेषक एवं विचारक भी कहे जाते हैं। उनके द्वारा निश्चित शिक्षा-उद्देश्य आज भी उपयोगी हैं। उनके शैक्षिक विचार आज अधिक व्यावहारिक बनाये जा सकते हैं, यदि उनके पाठ्यक्रम का पुन गठन किया जाय। उन्होंने डूबते भारत को चेतना एवं जीवन दिया। हम उनके चिर ऋणी रहेंगे। सुप्रसिद्ध इतिहासकार सर यदुनाथ सरकार के शब्दों में—"जब भारत के उत्थान का इतिहास लिखा जायेगा तो नंगे फकीर दयानन्द सरस्वती को उच्चासन पर बिठाया जायेगा।"

महर्षि दयानन्द द्वारा स्थापित आर्यसमाज का शिक्षा में योगदान कम महत्त्व-पूर्ण नहीं है। आर्यसमाज द्वारा संचालित शिक्षण संस्थाओं ने अविद्या के नाश और विद्या के प्रचार में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। आज आर्यसमाज और उसकी शिक्षण संस्थाएं केवल भारत में ही नहीं अपितु विश्व के अनेक देशों में फैली हैं। भारत में आर्य शिक्षण संस्थाओं की संख्या इस प्रकार है—(१) ४००० आर्य (हरिजन) पाठशालाएं, (२) २००० आर्य प्राथमिक पाठशालाएं, (३) ३०० संस्कृत पाठशालाएं, (४) २००० जूनियर माध्यमिक विद्यालय (५) ५०० कालेज तथा उच्चतर माध्यमिक विद्यालय (६) १२ प्राविधिक शिक्षण संस्थान (७) ८० गुरुकुल (८) अनेक शिशु विद्यालय इत्यादि।

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

पथिक, मार्ग पर बढ़ता चल

—रामकृष्ण भारती

पथिक, मार्ग पर बढ़ता चल,
जग से तू होना न चञ्चल।
× × ×
यह जगत् है मात्र छलबल,
कौन है सन्तुष्ट, निश्छल ?
सब को अपनी ही पड़ी है,
दूसरों की क्या पड़ी है ?
पर-प्रगति को देख जलते,
अवनति में हैं विहँसते।
है यही जग का पसारा,
कौन देता है सहारा ?
तू न दुख कुछ मानना, रे,
विश्व का लेखा यही है।
उदित रवि की ओर झुकते,
पीठ पीछे हैं विहँसते।
पर न पतझड़ ही रहेगा,
पवन वासन्ती चलेगा।
दुःख-सुख हैं आते जाते,
अपनी रंगत हैं दिखाते।
× × ×
काक-पिक दोनों हैं काले,
भिन्न पर हैं प्रकृति वाले।
है अलग दोनों की वाणी,
बोलते मृदु कटु हैं वाणी।

है यही ऋतु-वर्ग-लेखा,
गर्मी, सर्दी, वर्षा-रेखा।
आज लू, कल मेघ-वर्षा,
सर्दी आई, ओस टपका।
आज पतझड़ हो रहा है,
कल वसन्त निखर रहा है।
शिशिर अब, हेमन्त कल है,
शरत् भी आता प्रबल है।
दुनिया-वालो, मन न खोना,
चिर नहीं पतझड़ का होना।
आएगा मधुमास, सावन,
है सभी के मन का भावन।
व्यर्थ चिन्ता पतझड़ी की,
सफलता है पग न छूता।
दुनिया वालों का है धन्धा,
प्रगति-पथ में दें अड़ंगा।
रोकते पथ, बढ़ न पाएं,
मार्ग में काँटें बिछाएं।
मार्ग को अवरुद्ध करते,
विघ्न-बाधा-त्रस्त करते।
तू तनिक मत ध्यान धरना,
बोलने दे, जिसको कहना।
बोलना है जग की रीति,
बकते रहना काग नीति।

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

लक्ष्य को मत भूलना रे,
मार्ग शुभ मत छोड़ना रे।
कर न चिन्ता पतझड़ी की,
व्यर्थ चिन्ता उस घड़ी की।
आएगा पतझड़, तो आए,
जोर अपना वह लगाए।
कुछ न कर पाएगा तेरा,
दृढ़-व्रती रह, कर बसेरा,
सामना कर लेना उसका,
व्यर्थ क्यों घबराना मनका?
कष्ट, दुख तो आते रहते,
साथ बाधाएँ भी लाते।
पर न मानव मनको छोड़े,
अपने साहस को न तोड़े।
पग को चूमे तब सफलता,
शीघ्र भागे सब निराशा।
कष्ट-दुख भी भाग जाएं,
भीरुता को भी भगाएं।

× × ×

जगदीश्वर है तेरा पसारा,
छोड़ नहीं मार्ग-सहारा।
सही मार्ग पर चलते जाओ,
अपने पग आगे बढ़ाओ।
जग वाले कुछ कर न सकेंगे,
कुछ अनिष्ट तेरा न करेंगे।
इस जग ने किसको है छोड़ा?
इस जग ने तो सबको घेरा।
यह जग तो है गोरख-धन्धा,
यह जग तो है बिल्कुल अन्धा।
व्यर्थ न तू मन को भरमा रे,
व्यर्थ न तू चिन्ता करना, रे।
पकड़ सहारा परमेश्वर का.
वही एक अवलम्ब सभी का।
वह प्रसन्न, किसकी परवाह, रे?
चलता जा, निज पथ, मुसका, रे।
आशा ही है तेरा सम्बल,
हैं विश्वास, धैर्य तेरे दल।
कहने दे जग को, जो कहता,
सोच न कर, जल बढ़ता रहता।
पत्थर, चट्टानें हैं आतीं,
नदी-धार है बढ़ती जाती।
कष्ट कसौटी है मानव की,
बाधा, दुख, जीवन की थाती॥
अमृत को जो पीना चाहे,
विष को भी वह गले लगाए।
प्रेम मार्ग है टेढ़ा-मेढ़ा,
पथरीला है और संकरीला।
निश-दिन सहना ही है पड़ता,
तब ही मानव को सुख मिलता।
लक्ष्य ओर निज ध्यान लगाओ,
सफल बनो, चिर नाम कमाओ।
मार्ग साधना का है टेढ़ा,
लक्ष्य ओर है ध्यान घनेरा।
कर्म-मार्ग से विजय मिलेगी,
कायरता भी दूर भगेगी।
भय, चिन्ता, कायरता छोड़ो,
साहस से मत मुख को मोड़ो।
ईश्वर का वरदान मिलेगा,
कष्ट-दुखों से त्राण मिलेगा।
अपने पथ पर बढ़ते जाओ,
इत, उत मनको मत भरमाओ।
विजय तुम्हें माला पहनाए,
लक्ष्य-प्राप्ति आनन्द दिलाए।

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

—प्रो० धर्मवीर

सत्यार्थ प्रकाश में

[उपनिषद् के सन्दर्भों का स्वामी दयानन्द कृत अर्थ]

० ० ० ०

(अवतीत्योम् आकाशमिव व्यापकत्वात् खम् सर्वेभ्यो बृहत्त्वात् ब्रह्म) रक्षा करने से ओम् आकाशवत् व्यापक होने से खम् और सबसे बड़ा होने से ब्रह्म ईश्वर का नाम है।

ओ३म् जिसका नाम है और जो कभी नष्ट नहीं होता उसी की उपासना करनी योग्य है अन्य की नहीं ।।२।। छान्दोग्य।छा. स. पृ. १३।

सब वेदादि शास्त्रों में परमेश्वर का प्रधान और निज नाम ओ३म् को कहा है, अन्य सब गौणिक नाम हैं ।।३।। माण्डूक्य स. पृ० १४।

क्योंकि सब वेद, सब धर्मानुष्ठान रूपी तपश्चरण जिसका कथन और मान करते हैं और जिसकी प्राप्ति की इच्छा करके ब्रह्मचर्याश्रम करते हैं उसका नाम ओ३म् है ।।४।। कठ पृ १४।

हे सन्तानो ! जो अनवद्य अनिन्दनीय अर्थात् धर्मयुक्त कर्म हैं वे तुमको करने योग्य हैं अधर्म युक्त नहीं ।। तैत्ति. ।। पृ. ३५।

माता पिता आचार्य अपने सन्तान और शिष्यों को सदा सत्य उपदेश करें और यह भी कहें कि जो-जो हमारे धर्मयुक्त कर्म हैं उन-उन का ग्रहण करो और जो-जो दुष्ट कर्म हों उनका त्याग कर दिया करो। तैत्ति०। पृ० ४७।

ब्रह्मचार्य तीन प्रकार का होता है। कनिष्ठ, मध्यम और उत्तम उनमें से कनिष्ठ जो पुरुष अन्न रसमय देह और पुरि अर्थात् देह में शयन करने वाला जीवात्मा यज्ञ अर्थात् अतीव शुभ गुणों से संगत और सत्कर्त्तव्य है, इसको अवश्य है कि २४ वर्ष पर्यन्त जितेन्द्रिय अर्थात् ब्रह्मचारी रहकर वेदादि विद्या और सुशिक्षा का ग्रहण करे और विवाह करके भी लम्पटता न करे तो उसके शरीर में प्राण बलवान् होकर सब शुभ गुणों के वास करवाने वाले होते हैं।।१।।

इस प्रथम वय में जो उसको विद्याभ्यास में संतप्त करे और वह आचार्य वैसा ही उपदेश किया करे और ब्रह्मचारी ऐसा निश्चय रक्खे कि जो मैं प्रथम अवस्था में ठीक ब्रह्मचर्य से रहूंगा तो मेरा शरीर और आत्मा आरोग्य बलवान् होके शुभगुणों को बसाने वाले मेरे प्राण होंगे। हे मनुष्यों, तुम इस प्रकार से सुखों का विस्तार करो, जो मैं ब्रह्मचर्य का लोप न करूं। चौबीस वर्ष के पश्चात् गृहाश्रम करूंगा तो प्रसिद्ध है कि रोग रहित रहूंगा और आयु भी मेरी सत्तर वा अस्सी वर्ष तक रहेगी।।२।।

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

मध्यम ब्रह्मचर्य यह है—जो मनुष्य चौवालीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचारी रहकर वेदाभ्यास करता है, उसके प्राण, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण और आत्मा बल युक्त होके सब दुष्टों को रुलाने और श्रेष्ठों का पालन करने हारे होते हैं ॥३॥

जो मैं इसी प्रथमवय में जैसा आप कहते हैं कुछ तपश्चर्या करूं तो मेरे ये रुद्ररूप प्राणयुक्त यह मध्यम ब्रह्मचर्य सिद्ध होगा। हे ब्रह्मचारी लोगो ! तुम इस ब्रह्मचर्य को बढ़ाओ। जैसे मैं इस ब्रह्मचर्य का लोप न करके यज्ञ स्वरूप होता हूं और उसी आचार्य कुल से आता और रोग रहित होता हूं जैसा कि यह ब्रह्मचारी अच्छा काम करता है वैसा तुम किया करो ॥४॥

उत्तम ब्रह्मचर्य अड़तालीस वर्ष पर्यन्त का तीसरे प्रकार का होता है—जैसे अड़तालीस अक्षर की जगती वैसे जो अड़तालीस वर्ष पर्यन्त यथावत् ब्रह्मचर्य करता है उसके प्राण अनुकूल होकर सकल विद्याओं का ग्रहण करते हैं ॥५॥

आचार्य और माता-पिता अपने सन्तानों को प्रथम वय में विद्या और गुण ग्रहण के लिए तपस्वी कर और उसी का उपदेश करें और वे सन्तान आप ही आप अखण्डित ब्रह्मचर्य सेवन से तीसरे उत्तमब्रह्मचर्य का सेवन करके पूर्ण अर्थात् चार सौ वर्ष पर्यन्त आयु को बढ़ावें वसे तुम भी बढ़ाओ क्योंकि जो मनुष्य इस ब्रह्मचर्य को प्राप्त होकर लोप नहीं करते वे सब प्रकार के रोगों से रहित होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त होते हैं ॥६॥ छान्दोग्य ॥ पृ. ६०-६१ ।

ये पढ़ने पढ़ाने वालों के नियम हैं। (ऋत) यथार्थ आचारण से पढ़ें और पढ़ावें (सत्यं) सत्याचार से सत्यविद्याओं को पढ़ें और पढ़ावें। (तप०) तपस्वी अर्थात् धर्मानुष्ठान करते हुए वेदादि शास्त्रों को पढ़ें और पढ़ावें (दम०) बाह्य इन्द्रियों को बुरे आचरण से रोक के पढ़े और पढ़ाते जायें (शम०) अर्थात् मन की वृत्ति को सब प्रकार के दोषों से हटा के पढ़ते पढ़ाते जायें (अग्नय:) आहवनीयादि अग्नि और विद्युत् आदि को जानके पढ़ते पढ़ाते जायें और (अग्निहोत्र०) अग्निहोत्र करते हुए पठन पाठन करें करावें (अतिथय०) अतिथियों की सेवा करते हुए पढ़ें और पढ़ावें (मानुषं) मनुष्य सम्बन्धी व्यवहारों को यथायोग्य करते हुए पढ़ते पढ़ाते रहें (प्रजा०) अर्थात् सन्तान और राज्य का पालन करते हुए पढ़ते पढ़ाते जायें (प्रजनन०) वीर्य की रक्षा और वृद्धि करते हुए पढ़ते पढ़ाते जायें (प्रजाति०) अर्थात् अपने सन्तान और शिष्य का पालन करते हुए पढ़ते पढ़ाते जायें ॥ तत्ति. ॥ पृ० ६३।

आचार्य अन्तेवासी अर्थात् अपने शिष्य और शिष्याओं को इस प्रकार उपदेश करें कि तू सदा सत्य बोल, धर्माचार कर, प्रमाद रहित होके पढ़, पढ़ा, पूर्ण ब्रह्मचर्य से समस्त विद्याओं को ग्रहण और आचार्य के लिए प्रिय धन देकर विवाह करके सन्तानोत्पत्ति कर, प्रमाद मे सत्य को कभी मत छोड़, प्रमाद से धर्म का त्याग मत कर, प्रमाद से आरोग्य और चतुराई को मत छोड़, प्रमाद से पढ़ने और पढ़ाने को कभी मत छोड़, देव विद्वान् माता पितादि की सेवा में प्रमाद मत कर। जैसे विद्वान् का सत्कार करे उसी प्रकार माता-पिता आचार्य और अतिथि की सेवा सदा किया कर। जो आनन्दित धर्मयुक्त कर्म हैं उन सत्यभाषणादि को किया कर उनसे भिन्न मिथ्या भाषणादि कभी मत कर। जो हमारे सुचरित्र अर्थात् धर्मयुक्त कर्म हों उनका ग्रहण कर और जो पापाचरण हों उनको कभी मत कर। जो कोई हमारे मध्य में उत्तम

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

विद्वान् धर्मात्मा ब्राह्मण हैं उन्हीं के समीप बैठ और उन्हीं का विश्वास किया कर, श्रद्धा से देना, अश्रद्धा से देना, शोभा से देना, लज्जा से देना, भय से देना, और प्रतिज्ञा से भी देना चाहिए। जब कभी तुझको कर्म वा शील तथा उपासना ज्ञान में किसी प्रकार का संशय उत्पन्न हो, तो जो वे समदर्शी पक्षपात रहित योगी अयोगी आर्द्र-चित धर्म की कामना करने वाले धर्मात्मा जन हों जैसे वे धर्ममार्ग में वर्तें वैसे तू भी उसमें वर्ता कर। यही आदेश, आज्ञा, यही उपदेश, यही वेद की उपनिषत् और यही शिक्षा है। इसी प्रकार वर्तना और अपना चाल चलन सुधारना चाहिए ॥तैत्ति०। पृ० ६८-६६।

जो शान्त विद्वान् लोग वन में तप धर्मानुष्ठान और सत्य की श्रद्धा करके भिक्षाचरण करते हुए जंगल में बसते हैं, वे जहां नाश रहित पूर्ण पुरुष हानि लाभ रहित परमात्मा है वहां निर्मल होकर प्राण द्वार से उस परमात्मा को प्राप्त हो के आनन्दित हो जाते हैं ॥१॥ मुण्डक ॥ पृ० १६४।

जो दुराचार से पृथक् नहीं, जिसको शान्ति नहीं जिसका आत्मा योगी नहीं और जिसका मन शांत नहीं है, वह संन्यास ले के भी प्रज्ञान से परमात्मा को प्राप्त नहीं होता ॥कठ॥ पृ० १६७।

संन्यासी बुद्धिमान् वाणी और मन को अधर्म से रोके। उनको ज्ञान और आत्मा में लगावे और उस विज्ञान को शान्त स्वरूप आत्मा में स्थिर करे। कठ॥ पृ० १६५।

सब लौकिक भोगों को कर्म से संचित हुए देखकर ब्राह्मण अर्थात् संन्यासी वैराग्य को प्राप्त होवे। क्योंकि अकृत अर्थात् न किया हुआ परमात्माकृत अर्थात् केवल कर्म से प्राप्त नहीं होता, इसलिए अर्पण के अर्थ कुछ हाथ में लेके वेदवित् और परमेश्वर को जानने वाले गुरु के पास विज्ञान के लिए जावे। जाके सब सन्देहों की निवृत्ति करे। ॥मुण्डक॥ पृ० १६६।

जो अविद्या के भीतर खेल रहे, अपने को धीर और पंडित मानते हैं, वे नीच गति को जाने हारे मूढ़ जैसे अन्धे के पीछे अन्धे दुर्दशा को प्राप्त होते हैं, वैसे दुःखों को प्राप्त होते हैं ॥१॥

जो बहुधा अविद्या में रमण करने वाले बाल बुद्धि हम कृतार्थ हैं ऐसा मानते हैं, जिसको केवल कर्मकांडी लोग राग से मोहित होकर नहीं जान और जना सकते, वे आतुर होके जन्ममरण रूप दुःख में गिरे रहते हैं ॥२॥ मुण्डक॥ पृष्ठ १६६।

जो वेदान्त अर्थात् परमेश्वर प्रतिपादक वेदमन्त्रों के अर्थज्ञान और आचार में अच्छे प्रकार निश्चित, सन्यास योग से शुद्धान्तःकरण संन्यासी होते हैं, वे परमेश्वर में मुक्ति सुख को प्राप्त हो, भोग के पश्चात् जब मुक्ति में सुख की अवधि पूरी हो जाती है तब वहां से छूटकर संसार में आते हैं ॥मुण्डक॥ पृ० १६७।

जो देहधारी है वह सुख दुःख की प्राप्ति से पृथक् कभी नहीं रह सकता और जो शरीर रहित जीवात्मा मुक्ति में सर्वव्यापक परमेश्वर के साथ शुद्ध होकर रहता है तब उसको सांसारिक सुख दुःख प्राप्त नहीं होता ॥छान्दोग्य॥ पृ० १६७।

जिस पुरुष के समाधि योग से अविद्यादि मल नष्ट हो गये हैं, आत्मस्थ होकर

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

परमात्मा में चित्त जिसने लगाया है, उसको जो परमात्मा के योग का सुख होता है, वह वाणी से कहा नहीं जा सकता क्योंकि उस आनन्द को जीवात्मा अपने अन्तःकरण से ग्रहण करता है ।।·······।। पृ० २५० ।

परमेश्वर को हाथ नहीं परन्तु अपनी शक्ति रूप हाथ से सबका रचन, ग्रहण करता, पग नहीं परन्तु व्यापक होने से सबसे अधिक वेगवान्, चक्षु का गोलक नहीं परन्तु सबको यथावत् देखता, श्रोत्र नहीं परन्तु सबकी बातें सुनता अंतःकरण नहीं परन्तु सब जगत् को जानता है, और उसको अवधि सहित जानने वाला कोई भी नहीं उसी को सनातन, सबसे श्रेष्ठ सबमें पूर्ण होने से पुरुष कहते हैं। वह इन्द्रियों और अन्तःकरण के बिना अपने सब काम अपने सामर्थ्य से करता है । पृ० २५२ ।

परमात्मा से कोई तद्रूप कार्य्य और उसको करण अर्थात् साधकतम दूसरा अपेक्षित नहीं । न कोई उसके तुल्य और न अधिक है । सर्वोत्तम शक्ति अर्थात् जिसमें अनन्त ज्ञान, अनन्त बल और अनन्त क्रिया है, वह स्वाभाविक अर्थात् सहज उसमें सुनी जाती है । जो परमेश्वर निष्क्रिय होता तो जगत् की उत्पत्ति स्थिति प्रलय न कर सकता । इसलिए वह विभु तथापि चेतन होने से उसमें क्रिया भी है ।। ·······।। पृ० २५३ ।

जो जन्मरहित सत्त्व, रज, तमोगुणरूप प्रकृति है, वही स्वरूपाकार से बहुत प्रजारूप हो जाती है ।।श्वेताश्वर।। पृ० २५५ ।

वह परमात्मा जानने योग्य है । जो यह अत्यन्त सूक्ष्म ओर इस सब जगत् और जीव का आत्मा है । वही सत्यस्वरूप और अपना आत्मा आप ही है । हे श्वेत-केतो प्रियपुत्र ! उस परमात्मा अन्तर्यामी से तू युक्त है ।।छान्दोग्य।। पृ० ६३ ।

हे मैत्रेयी, जो परमेश्वर आत्मा अर्थात् जीव में स्थित और जीवात्मा से भिन्न है, जिसको मूढ़ जीवात्मा नहीं जानता कि वह परमात्मा मेरे में व्यापक है. जिस परमेश्वर का जीवात्मा शरीर अर्थात् जैसे शरीर में जीव रहता है वैसे ही जीव में परमेश्वर व्यापक है जीवात्मा से भिन्न रहकर जीव के पाप पुण्यों का साक्षी होकर उनके फल जीवों को देकर नियम में रखता है । वही अविनाशी स्वरूप तेरा भी अन्तर्यामी आत्मा अर्थात् तेरे भीतर व्यापक है, उसको तू जान ।। बृहदारण्यक ।। पृ० २६३-६४ ।

······किन्तु जो जीव परमेश्वर का निषेध वा किसी एक देश काल में परिच्छिन्न परमात्मा को माने वा उसकी आज्ञा और गुणकर्म स्वभाव से विरूद्ध होवे अथवा किसी दूसरे मनुष्य से वैर करे उसको भय प्राप्त होता है ।।बृहदारण्यक।। पृ० २७० ।

जिस परमात्मा की रचना से ये सब पृथिव्यादि भूत उत्पन्न होते हैं जिससे जीते और जिसमें प्रलय को प्राप्त होते हैं, वह ब्रह्म है । उसके जानने की इच्छा करो। तैत्ति० ।' पृ० २८१ ।

प्रकृति, जीव और परमात्मा तीनों अज अर्थात् जिनका जन्म कभी नहीं होता और न कभी ये जन्म लेते अर्थात् ये तीन सब जगत् के कारण हैं । इनका कारण कोई नहीं । इस अनादि प्रकृति का भोग अनादि जीव करता हुआ फंसता है और उसमें परमात्मा न फँसता और न उसका भोग करता है ।। पृ० २८४ ।

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

हे श्वेतकेतो अन्नरूप पृथिवी कार्य से जलरूप मूलकारण को तू जान। कार्यरूप जल से तेजोरूप मूल और तेजोरूप कार्य से सद्रूप कारण जो नित्य प्रकृति है उसको जान। यही सत्यस्वरूप प्रकृति सब जगत् का मूल घर और स्थिति का स्थान है ।। छान्दोग्य ।। पृ० २८५ ।

हे जीव तू उस ब्रह्म की उपासना कर, जिस ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और जीवन होता है, जिसके बनाने और धारण से यह सब जगत् विद्यमान हुआ है वा ब्रह्म से सहचरित है, उसको छोड़ दूसरे की उपासना न करनी। इस चेतन मात्र अखण्डैक रस ब्रह्म स्वरूप में नाना वस्तुओं का मेल नहीं है किन्तु ये सब पृथक्-पृथक् स्वरूप में परमेश्वर के आधार में स्थित हैं ।। पृ० २८६ ।

जैसे मकड़ी बाहर से कोई पदार्थ नहीं लेती अपने ही में से तन्तु निकाल जाला बनाकर आप ही उसमें खेलती है वैसे ब्रह्म अपने में से जगत् को बना आप जगदाधार बन आप ही क्रीडा कर रहा है। सो ब्रह्म इच्छा और कामना करता हुआ कि मैं बहुरूप अर्थात् जगदाकार हो जाऊँ, संकल्पमात्र से सब जगद्रूप बन गया ।। पृ० २८७ ।

उस परमेश्वर और प्रकृति से आकाश अवकाश अर्थात् जो कारण रूप द्रव्य सर्वत्र फैल रहा था उसको इकट्ठा करने से अवकाश उत्पन्न सा होता है। वास्तव में आकाश की उत्पत्ति नहीं होती क्योंकि बिना आकाश के प्रकृति और परमाणु कहाँ ठहर सकें ? आकाश के पश्चात् वायु, वायु के पश्चात् अग्नि, अग्नि के पश्चात् जल, जल के पश्चात् पृथिवी, पृथिवी से औषधि, औषधियों से अन्न, अन्न से वीर्य, वीर्य से पुरुष अर्थात् शरीर उत्पन्न होता है ।। छान्दोग्य ।। पृ० ३०० ।

अनादि नित्यस्वरूप सत्त्व, रजस् और तमोगुणों की एक अवस्था रूप प्रकृति से उत्पन्न जो परमसूक्ष्म पृथक्-पृथक् तत्त्वावयव विद्यमान हैं उन्हीं का प्रथम हो जो संयोग का आरम्भ है, संयोग विशेषों से अवस्थान्तर दूसरी, दूसरी अवस्था को सूक्ष्म, सूक्ष्म से स्थूल, स्थूल से बनते बनाते विचित्र रूप बनी है। इसी से यह संसर्ग होने से सृष्टि कहाती है ।। पृ० ३०२ ।

जब शुद्ध मन युक्त पाँच ज्ञानेन्द्रिय जीव के साथ रहती हैं और बुद्धि का निश्चय स्थिर होता है उसको परम गति अर्थात् मोक्ष कहते हैं ।। पृ० ३२७-२८ ।

जो परमात्मा अपहतपाप्मा सर्व पाप, जरा, मृत्यु शोक, क्षुधा, पिपासा से रहित सत्यकाम सत्य संकल्प है, उसकी खोज और उसी को जानने की इच्छा करनी चाहिए। जिस परमात्मा के सम्बन्ध से युक्त जीव सब लोकों और सब कामों को प्राप्त होता है जो परमात्मा को जान के मोक्ष के साधन और अपने को शुद्ध करना जानता है सो यह मुक्ति को प्राप्त जीव शुद्ध दिव्य नेत्र और शुद्ध मन से कामों को देखता, प्राप्त होता हुआ रमण करता है।

जो ये ब्रह्मलोक अर्थात् दर्शनीय परमात्मा में स्थिर होके मोक्ष सुख को भोगते हैं और इसी परमात्मा का जो कि सबका अन्तर्यामी आत्मा है उसकी उपासना मुक्ति की प्राप्ति करने वाले विद्वान् लोग करते हैं। उससे उनको सब लोक और सब काम प्राप्त होते हैं अर्थात् जो-जो संकल्प करते हैं वह-वह लोक और वह-वह काम प्राप्त होता हैं और वे मुक्त जीव स्थूल शरीर जोड़कर संकल्पमय शरीर से आकाश में

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

प्रत्येक भारतीय को "आर्य" बनाने का व्रत लें

आर्य सदस्य बनें बनाएं

सदस्यता पत्र मुफ्त मंगाएं

परमेश्वर में विचरते हैं। क्योंकि जो शरीर वाले होते हैं वे सांसारिक दुःखों से रहित नहीं हो सकते।

जैसे इन्द्र से प्रजापति ने कहा है कि हे परमपूजित धनयुक्त पुरुष! यह स्थूल शरीर मरणधर्मा है और जैसे सिंह के मुख में बकरी होवे वैसे यह शरीर मृत्यु के मुख के बीच है। सो शरीर इस मरण और शरीर रहित जीवात्मा का निवास स्थान है।

इसीलिए यह जीव सुख और दुःख से सदा ग्रस्त रहता है क्योंकि शरीर सहित जीव की सांसारिक प्रसन्नता की निवृत्ति होती ही है और जो शरीर रहित मुक्त जीवात्मा ब्रह्म में रहता है उसको सांसारिक सुख दुःख का स्पर्श भी नहीं होता किन्तु सदा आनन्द में रहता है॥ छान्दोग्य॥ पृ० ३२७-२८।

वे मुक्त जीव मुक्ति में प्राप्त होके ब्रह्म में आनन्द को तब तक भोग के पुनः महाकल्प के पश्चात् मुक्ति सुख को छोड़ के संसार में आते हैं।

॥मुण्डक॥ पृ० ३३१।

जब इस जीव के हृदय की अविद्या अज्ञानरूपी गाँठ कट जाती है सब संशय छिन्न होते और दुष्ट कर्म क्षय को प्राप्त होते हैं तभी उस परमात्मा जो कि अपने आत्मा के भीतर और बाहर व्याप रहा है, उसमें निवास करता है॥१॥ मुण्डक॥ पृ० ३४५।

जो जीवात्मा अपनी बुद्धि और आत्मा में स्थित सत्य ज्ञान और अनन्त आनन्द स्वरूप परमात्मा को जानता है वह उस व्यापक रूप ब्रह्म में स्थित होके उस "विपश्चित्" अनन्त विद्यायुक्त ब्रह्म के साथ सब कामों को प्राप्त होता है। अर्थात् जिस-जिस आनन्द की कामना करता है उन-उन कामों को प्राप्त होता है यही मुक्ति कहाती है॥ तैत्तिरीय॥ पृ० ३४६।

माता पिता आचार्य और अतिथि की सेवा करना देवपूजा कहाती है॥ तैत्तिरीय॥ पृ० ३६२।

सृष्टि से लेकर महाभारत पर्यन्त चक्रवर्ती सार्वभौम राजा आर्य्यकुल में ही हुए थे॥ मैत्र्युपनिषद्॥ पृ० ३८१॥

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

उपनिषदों के सिद्धान्तों को समझने में मतभेद

—शिवपूजनसिंह, एम० ए०, साहित्यालंकार

उपनिषदों के समझने में मतभेद का कारण उनमें बाह्याध्यात्म जगत्, जीवात्मा, परमात्मा और प्रकृति का भिन्न-भिन्न वर्णन पाया जाता है। इससे जीवात्मा, परमात्मा और जगत् का भेद और तीनों का सत्य होना प्रतीत होता है। अन्य प्रकार के भी वचन हैं यथा "तत्त्वमसि" वह तू है छान्दोग्योपषिद् ६।८।६ से जीवात्मा परमात्मा का अभेद प्रतीत होता है। ऐसे भी वचन हैं जिनमें सृष्टि से पूर्व एक परमात्मा के सिवाय किसी अन्य का न होना पाया जाता है यथा—सदव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् छान्दोग्यो० ६।२।१ हे सोम्य ! सत् ही यह पूर्व था, एक ही विना दूसरे के। ऐसे वचन भी हैं जिनमें सब-कुछ परमात्मा ही कहा है यथा "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" छान्दोग्यो० ३।१४।१ यह निश्चय ही सब ब्रह्म है। इन उभयविध वाक्यों को देखकर यह शक होता है कि उपनिषदों का तात्पर्य अभेद में है अथवा भेद में। यदि भेद में है तो अभेद क्यों और अभेद में है तो भेद वाक्य किस तात्पर्य से कहे गए हैं।

इन भिन्न-भिन्न मतों को एक-दूसरे से अलग करने के लिए ये नाम दिए गए हैं। द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत और द्वैताद्वैत सिद्धान्त।

वैदिक सिद्धान्त "त्रैतवाद" है अर्थात् ईश्वर जीव प्रकृति तीनों प्रवाह से अनादि हैं।

द्वैत सिद्धान्त—श्री आनन्दतीर्थ (मध्व) का 'द्वैत' सिद्धान्त है। ब्रह्मसूत्र पर इन्होंने 'पूर्णप्रज्ञभाष्य' किया है। माध्व मत का अन्य नाम 'ब्रह्म सम्प्रदाय' है। श्री आनन्दतीर्थ का ही प्रसिद्ध नाम मध्व, पूर्णबोध 'पूर्णप्रज्ञ है। आपने एतरेय, केन, कठ, छान्दोग्य, बृहदारण्यक आदि उपनिषदों पर भाष्य किया है जिनकी वेदेश ने व्याख्या की है। न्याय रत्नालंकार में द्वैत और अद्वैत के रोचक शास्त्रार्थ का सारांश एकत्रित किया गया है।

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

माध्व मत—जीवात्मा बहुत से हैं अन्यथा सुख दुःख प्रभृति सबको साथ ही साथ होते।

जीवात्मा परमात्मा में भेद—ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है। जीवात्मा अल्पज्ञ और अल्पशक्तिवाला। अतएव उनमें भेद है। मध्व स्वतः प्रामाण्य वादी हैं।

जीव और जगत्, ब्रह्म तीनों अलग-अलग हैं। मुक्त जीव और ईश्वर की एकता मध्व को स्वीकार नहीं है।

साधन मार्ग—श्रवण, मनन और ध्यान, के साथ तारतम्य परज्ञान तथा पंचभेद ज्ञान का होना अत्यावश्यक है। ज्ञान, सुखादि का अवसान परमात्मा से ही होता है यही तारतम्य ज्ञान है। मुक्त जीवों में आनन्द का तारतम्य मानना माध्वमत की एक विशिष्ट कल्पना है।

आद्यश्री शंकराचार्य के अध्यास और विवर्त्त सिद्धांत की मध्व और उनके अनुयायियों ने कड़ी आलोचना की है।

अद्वैत सिद्धान्त—श्री शंकराचार्य आचार्य गौड़पाद के शिष्य श्री गोविन्द भगवत्पाद के शिष्य थे। इनके परम गुरु श्री गौड़पादाचार्य जी अद्वैत के प्रथम आचार्य हैं जिनकी मांडूक्य कारिका अद्वैत तत्त्व की अधारशिला के समान महनीय मानी जाती है। मायावाद का आरम्भ श्री गौड़पाद से माना जाता है।

ब्रह्म ही एक परमार्थ सत् है और वह निर्गुण है:—शंकराचार्य के अनुसार उपनिषदों की शिक्षा संक्षेप में यह है—जो कुछ यह नाना रूप प्रतीत होता है यह वस्तुतः एक है। वास्तव में एक ही परमात्मसत्ता है, जिसको ब्रह्म वा परमात्मा कहते हैं। वह शुद्ध चैतन्य वा शुद्ध ज्ञान है। वह निर्विशेष है अथवा जो कुछ है वह आप ही है, उसमें कोई गुण वा धर्म नहीं है इसलिये निर्गुण, निर्धर्म वा निर्विशेष है।

प्रपंच और माया—ब्रह्म के साथ अनादि से एक विशेष शक्ति है, जिसे माया वा अविद्या कहते हैं। यह सारा प्रपंच इसी से दिखलाया जाता है। इस शक्ति को न सत् कह सकते हैं, न असत्। सत् इसलिए नहीं कि वह ब्रह्म की तरह वस्तु सत् नहीं, क्योंकि ज्ञानोदय के पश्चात् इसका विनाश हो जाता है, असत् इसलिए नहीं कि यह किसी न किसी भाँति इस प्रपंच को प्रकट कर देती है इसलिए अभावरूप नहीं। वस्तुतः इस भ्रांति का अनिर्वचनीय कारण है, जिस भ्रांति से हम अपने चारों ओर जड़ चेतन की विविध सृष्टि देख रहे हैं। ब्रह्म इस शक्ति के द्वारा इस प्रकार जड़ चेतन की अनेक विध सृष्टि को प्रदर्शित करता है जैसे कोई जादूगर (मायावी) अपनी शक्ति से अनेक प्रकार के जड़ चेतनों को प्रकट करके दिखला देता है जो वस्तुतः भ्रांतिमात्र हुआ करते हैं।

वास्तव में माया और अविद्या एक ही वस्तु है।[1]

शुद्ध सत्त्व प्रधान माया है और मलिन सत्त्व प्रधान अविद्या। माया ईश्वर की उपाधि है और अविद्या जीव की।

ब्रह्म जगत् का उत्पादन कारण—यह प्रपंच माया से प्रकट हुआ है, इसलिए माया इसका उपादान है न कि ब्रह्म, पर माया कोई स्वतन्त्र सत्पदार्थ नहीं, ब्रह्म की

---

१. पंचपादिका विवरण पृष्ठ ३२, विजयानगरम् संस्कृत सिरीज।

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

ही अनिर्वचनीय शक्ति है इसलिए शक्ति रूप से माया का जहाँ तक ब्रह्म के साथ सम्बन्ध है वहाँ तक ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण कह सकते हैं। माया विशिष्ट ब्रह्म निमित्त और उपादान (अभिन्न निमित्तोपादान) है। माया के सम्बन्ध से ब्रह्म को प्राय: ईश्वर कहते हैं।

जीवात्मा का स्वरूप—ईश्वर की इच्छा से माया में परिणाम होता है और उससे ये सारे रूप जो हमारे चारों ओर हैं और अपने अलग-अलग नाम रूप से प्रकट होते हैं—भूत भौतिक, शरीर और इन्द्रिय सब उसी का परिणाम है। इसलिए ये शरीर जो एक दूसरे से भिन्न-भिन्न हैं, यह माया का रूप है और इनमें जो चेतन है वह ब्रह्म है। इन सारे भिन्न शरीरों में ब्रह्म एक अभिन्न है पर वह माया कृत ज्ञान और कर्म के भेद से प्रति व्यक्ति भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है, यही जीवात्मा है। अर्थात् अविद्या से ससक्त होकर, अविद्या की उपाधि से ब्रह्म का विशुद्ध चैतन्य-स्वरूप जीव बन जाता है। प्रत्येक जीव के साथ एक अन्त:करण की उपाधि रहती है, इसलिए जीव परिच्छिन्न और अल्पज्ञ है।

'पंचपादिका विवरण' का लेखक जीव को ईश्वर का प्रतिबिम्ब मानता है।[1]

भ्रान्ति का अन्त और जीव का मोक्ष—जब ज्ञान से अज्ञान का विनाश हो जाता है तब यह संसार निवृत्त हो जाता है, कर्म का फल भूमण्डल के अन्तर्गत ही रहता है। दूसरा पथ, ज्ञान कांड है। उसके दो भेद हैं, एक पथ वह है जिसमें ब्रह्म का ज्ञान वहाँ तक दिया है, जहाँ तक उसका सम्बन्ध है। इन भागों में ब्रह्म के भिन्न भिन्न गुण वर्णन किए हैं, अर्थात् इनमें सगुण ब्रह्म का उपदेश है और यह उपासना के लिए है इसी को "उपासना कांड" कहते हैं। दूसरे भाग में ब्रह्म का शुद्ध स्वरूप निर्गुण (सारे धर्मों से रहित) वर्णन किया है, वा जिनमें जीव को ब्रह्म रूप बतलाया है।

इनमें से पहले ज्ञान (सगुण ब्रह्म की उपासना) से जीव मुक्त नहीं होता, पर वह शरीर को परित्याग करके केवल ब्रह्मलोक में जाता है। जब निर्गुण के ज्ञान को लाभ करता है तब मुक्त हो जाता है।

मुक्त जीव को ब्रह्मलोक या ईश्वरभाव प्राप्त हो जाता है।[2] वह ज्ञानी जो ब्रह्म के उस शुद्ध स्वरूप को जानते हैं, जो सारे गुणों से परे है और महावाक्यों[3] द्वारा

---

१. प्रतिबिम्बो जीव: विम्बस्थानीय ईश्वर:—"सिद्धान्तलेश" (विजयानगरम्) पृष्ठ १७।

२. "सिद्धांतलेश" (विजयानगरम् संस्करण) पृष्ठ ११२।

३. महावाक्यों की संख्या चार है। महावाक्यों का स्वरूप यह है, "अहं ब्रह्मास्मि" शतपथ ब्रा० १४-२।२।६ (बृहदारण्यकोपनिषद् १।४।१०) तत्त्वमसि (छान्दोग्योपनिषद् ६।८।७). अयमात्मा ब्रह्म (मांडूक्योपनिषद् २) प्रज्ञानं ब्रह्म (ऐतरेयोपनिषद् तृतीय अध्याय ३) इनका अर्थ पंचदशी पंचम प्रकरण में है। तत्त्वमसि पर श्री शंकराचार्य जी ने ब्रह्म सूत्र ४।१।२ के भाष्य में विशेष विचार किया है। ये श्रुति के महावाक्य कहलाते हैं।

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

जान लेते हैं कि आत्मा के परमार्थ स्वरूप और परमात्मा में कोई भेद नहीं है, वह उसी क्षण परममुक्ति लाभ करते हैं—अर्थात् वह माया के प्रभाव से परे हो जाते हैं और अपने वास्तविक स्वरूप को पा लेते हैं जो केवल शुद्ध ब्रह्म है।

इस सिद्धान्त का अपना विशिष्ट नाम "अद्वैत सिद्धान्त" है। इस सिद्धान्त में द्वैतभाव को दूर किया जाता है।

अद्वैत सिद्धान्त से वैदिक सिद्धान्त का मेल और भेद—आर्यसमाज के प्रवर्त्तक महर्षि दयानन्द जी सरस्वती ने इस नवीन वेदांत (अद्वैतवाद) की आलोचना की है।[1] आर्यसमाज के दार्शनिक विद्वान् स्व० गंगाप्रसाद उपाध्याय एम० ए० ने भी आलोचना की है।[2] ब्रह्म एक है, इस अंश में वैदिक सिद्धान्त से श्री शंकराचार्य का मेल है। श्री स्वामी शंकराचार्य जीव को अनादि मानते हैं, पर उसे ब्रह्म से भिन्न नहीं मानते, किन्तु भ्रांति से वह अपने आपको भिन्न समझता है। वैदिक सिद्धान्त में जीवात्मा, ब्रह्म सदृश चेतन है, पर वह ब्रह्म से भिन्न है और मुक्ति में भी भिन्न रहता है।

स्वामी शंकराचार्य के अनुसार माया सत् असत् से अनिर्वचनीय एक शक्ति है और उसका कार्य जगत् मिथ्या है। वैदिक सिद्धांत में 'माया' सद्‌रूप है और उसका कार्य सत्य है। मुक्ति के सम्बन्ध में जब जीव ब्रह्म रूप नहीं तो वह मुक्ति में भी ब्रह्म रूप नहीं हो जाता परन्तु ब्रह्म के परम सदृश हो जाता है, पर अपने अलग स्वरूप को खो नहीं देता। यह मुक्ति के सम्बन्ध में एक भेद है। अद्वैतवाद में मोक्ष निरवधि है और वैदिक सिद्धांत में मोक्ष सावधि है अर्थात् मुक्ति से पुनरावृत्ति होती है।

श्री रामानुजाचार्य का "विशिष्टाद्वैत सिद्धांत"[3] —श्री रामानुजाचार्य ने वेदांतसार (ब्रह्मसूत्र की लघ्वक्षर टीका), वेदांतदीप (ब्रह्मसूत्र की टीका), वेदार्थ संग्रह (शांकर मत, भास्कर मत का खंडन), श्रीभाष्य (विशिष्टाद्वैत के सिद्धांतों का विस्तृत व प्रामाणिक विवेचन) प्रभृति पुस्तकें लिखी हैं।

इनके मत में पदार्थ तीन हैं—चित्, अचित् और ईश्वर। चित् से अभिप्राय भोक्ता जीवात्मा से, अचित् का तात्पर्य भोग्य जगत् से तथा ईश्वर से अभिप्राय सर्वान्तर्यामी से है।

विशिष्टाद्वैत मत को श्री सम्प्रदाय भी कहते हैं। पदार्थ, शरीर और इंद्रिय यह अचित् (जड़) है। इस अचित् शरीर का आत्मा जो चित् (चेतन) है वह जीवात्मा है। परमात्मा इन दोनों से ही अत्यन्त विलक्षण है, जो इनमें व्यापक है, इनका आधार है, सर्वज्ञ है और सर्वशक्तिमान् है।

---

१. "सत्यार्थ प्रकाश" एकादश समुल्लास वेदान्तिध्वान्त निवारण, पुस्तिका।

२. "अद्वैतवाद" तथा "शांकर भाष्यालोचन" पुस्तक (कला प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित)।

३. इस मत की आलोचना महर्षि दयानन्दजी ने "सत्यार्थ प्रकाश" एकादश समुल्लास में की है (लेखक)।

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

ईश्वर—ईश्वर निर्गुण या निर्विशेष नहीं है, वह ज्ञान, शक्ति, करुणा का भंडार है। वह सर्वेश्वर, सब का आराध्य, सर्वाधार, सर्वफल दाता है। निखिल विश्व उसका शरीर है, वह विश्व के दोषों से मुक्त है। वह सत्य, ज्ञान, आनन्द और स्वच्छता धर्मवाला है।

वह जीवों का अंतर्यामी और स्वामी है। जीव उसका शरीर है। विशिष्टाद्वैत का ईश्वर व्यक्तित्ववान् पुरुष है और अप्राकृत वैकुण्ठ जैसे स्थानों में निवास करने वाला है। ईश्वर का जीव, प्रकृति, काल आदि से अपृथक्सिद्धि सम्बन्ध है। ईश्वर जीव व प्रकृति प्रभृति से भिन्न है। जीव, प्रकृति आदि ईश्वर के विशेषण हैं, पर वे भी द्रव्य हैं।

उपासकों के ऊपर अनुग्रह करने तथा जगत् की रक्षा करने के पवित्र उद्देश्य से ईश्वर पाँच प्रकार के—पर, व्यूह, विभव, अंतर्यामी तथा अर्चावतार रूपों को धारण करता है। देवमूर्तियां भगवान् का अर्चावतार हैं, मत्स्यावतार आदि विभव हैं, वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध व्यूह हैं, सूक्ष्म से तात्पर्य परब्रह्म से है, अंतर्यामी प्रत्येक शरीर में वर्तमान है। सूक्ष्म या परब्रह्म से तात्पर्य वैकुण्ठवासी भगवान् से भी समझा जाता है। शेष उनकी शैया है और लक्ष्मी प्रिय पत्नी। लक्ष्मी विश्व की माता है। वह ईश्वर की सृजन शक्ति का मूर्त्त चिह्न है। वह दण्ड देना नहीं जानती और पापियों के प्रति करुणामयी है।

जीव—अणु और चेतन है। हृदयेश में निवास करने के कारण वह अणु है। मुंडकोपनिषद् ३।१।६ और श्वेताश्वतर ५।६ के आधार पर निखिल वैष्णव सम्प्रदाय जीव को अणु मानते हैं। जीव में एक विशेष गुण, शेषत्व, विद्यमान है। ईश्वरानुग्रह के विना वह अपने कर्त्तव्यों का सुचारु सम्पादन नहीं कर सकता। जीव अनन्त हैं, वे एक दूसरे से नितान्त पृथक् हैं।

जीवेश्वर सम्बन्ध—ब्रह्म से जीव एकदम भिन्न है। दोनों अज हैं, एक ईश है दूसरा अनीश। एक प्राज्ञ है दूसरा अज्ञ (ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ—श्वेताश्वतरोपनिषद १।६) आदि भेदमूलक श्रुतियां जीव को ब्रह्म से एकदम पृथक्, स्वतन्त्र बतलाती हैं। ब्रह्म अखंड वस्तु है, तब जीव को उसका खंड बतलाना कहाँ तक उचित है? श्री रामानुजाचार्य का कहना है कि चिनगारी जिस प्रकार अग्नि का अंश है, देह देही का अंश है, उसी प्रकार जीव ब्रह्म का अंश है। अतः जीव ब्रह्म में अंशांशीभाव या विशेषण विशेष्य भाव सम्बन्ध है।

प्रकृति—प्रथम जड़ द्रव्य है, वह जीवों का निवास स्थान है, क्योंकि जीव स्वयं ईश्वर का शरीर है। इसलिए प्रकृति ईश्वर का भी निवास स्थान या शरीर है। प्रकृति त्रिगुणमयी और चौबीस तत्त्वों की जननी है।

मोक्ष—मोक्ष दशा में शरीर ज्ञान और आनन्द सबका भाव होता है, अभाव नहीं। मुक्ति का शरीर अप्राकृतिक (नित्यविभूति) का कार्य होता है।

'नित्य विभूति' के उपादान वैकुंठ में मुक्तजीव शरीरधारी होकर भगवान् के सान्निध्य का आनन्द लूटते हैं। मुक्त जीव ब्रह्म के सदृश हो जाता है न कि ब्रह्म रूप, परन्तु जगत् की उत्पत्ति, प्रलय आदि में उसका कोई हाथ नहीं होता।

विशिष्टाद्वैत नाम क्यों ?—चित्, अचित् परमात्मा का शरीर है, प्रकार है,

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

विशेषण है, परमात्मा इन विशेषणों से विशिष्ट हैं। सूक्ष्म चित् अचित् रूपी शरीर विशिष्ट परमात्मा का कारण है और स्थूल चित् अचित् शरीर विशिष्ट परमात्मा का कार्य है। इस प्रकार चित् अचित् से विशिष्ट रूप में वर्णन करने से दूसरी वस्तु नहीं रहती है। उपनिषदों में जहाँ कहीं अद्वैत वा अभेद का वर्णन है, इसी अभिप्राय से है। इस प्रकार विशिष्ट रूप में अद्वैत मानने से यह 'विशिष्टाद्वैत' सिद्धान्त कहलाता है।

शुद्धाद्वैत सिद्धान्त[1]—शुद्धाद्वैत मत के प्रवर्तक श्री वल्लभाचार्य माने जाते हैं। वे श्री विष्णु स्वामी के अनुयायी थे। विजयानगराधीश श्रीकृष्णराय (१५००-१५२५) के दरबार में द्वैत मत के आचार्य श्री व्यासतीर्थ की अध्यक्षता में इन्होंने अद्वैतवादियों को पराजित कर अपनी विद्वत्ता का पूर्ण परिचय दिया था। इन्होंने वेदान्तसूत्रों पर अणुभाष्य, तत्त्वदीप निबन्ध (भागवत के सिद्धान्तों का प्रतिपादक विशिष्ट ग्रन्थ) भागवत सूक्ष्म टीका, सुबोधिनी (भागवत पुराण के १, २, ३, १० स्कन्धों पर विख्यात टीका) पूर्व मीमांसा भाष्य, सिद्धान्त मुक्तावली प्रभृति १६ ग्रंथों की रचना की। उनके सम्प्रदाय को ब्रह्मवाद और पुष्टिमार्ग[2] भी कहते हैं। पुष्टि का अर्थ है पोषण अथवा अनुग्रह अर्थात् भगवत्कृपा। अपने को हीन मानकर जो भगवान् की दया पर निर्भर रहते हैं उन्हीं का कल्याण होता है।

शुद्धाद्वैत नाम क्यों पड़ा:—

'शुद्धाद्वैत पदे सोऽयं समासः कर्मधारयः।
अद्वैतशुद्धयोः प्राहुः षष्ठीतत्पुरुषं बुधाः ॥२७॥
माया सम्बन्धरहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः।
कार्यकारण रूपं हि शुद्धं ब्रह्म न मायिकम् ॥२८॥

——शुद्धाद्वैत मार्तण्ड

इनके मत में ब्रह्म माया से अलिप्त अतः नितान्त शुद्ध है। यह माया सम्बन्ध-रहित ब्रह्म ही एक अद्वैत तत्त्व है। अतः इस मत का शुद्धाद्वैत नाम यथार्थ है।

इस पुष्टिमार्गीय भक्ति के भी चार प्रकार बतलाए गए हैं, जिनमें से पहले द्वारा प्रभावित भक्त मर्यादा पुष्टि भक्त कहलाता है और वह भगवान् के गुणों को जानता हुआ भक्ति करता, दूसरा प्रवाह पुष्टि भक्त होता है जो कर्म में विशेष रुचि रक्खा करता है, तीसरा पुष्टि भक्त होता है जो हरि का यथार्थ ज्ञान उपलब्ध कर सर्वाधिक स्नेह सम्पन्न रहा करता है। चौथा शुद्ध पुष्टि भक्त हुआ करता है जो

---

१. वही तथा स्वामी व्यंकटानन्द जी कृत, वल्लभकुल चरित्र दर्पण, वल्लभ-कुल दंभ दर्पण, वल्लभ कुल छल कपट दर्पण पुस्तकें।

२. ये गुसाईं लोग अपने सम्प्रदाय को, पुष्टिमार्ग कहते हैं अर्थात् खाने, पीने पुष्ट होने और सब स्त्रियों के संग यथेष्ट भोग विलास करने को पुष्टि-मार्ग कहते हैं।...सच पूछो तो पुष्टिमार्ग नहीं किन्तु कुष्ठिमार्ग है।
—सत्यार्थ प्रकाश, एकादश समुल्लास

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

'पूर्ण प्रेमपूर्वक हरि की परिचर्या एवं गुण श्रवणादि में दत्तचित्त रहा करता है।'

ब्रह्म—इस मत में ब्रह्म सर्व धर्म विशिष्ट अंगीकृत किया गया है। एक ब्रह्म ही तत्त्व पदार्थ है, वह निर्गुण नहीं, सगुण है। ईश्वर सृष्टिकर्त्ता हैं। भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए अवतार धारण करते हैं। वह सत्, चित्, आनन्द स्वरूप है। वे जगत् के उपादान और निमित्त कारण दोनों हैं। जगत् मिथ्या या मायामय नहीं है। माया ब्रह्म की ही शक्ति है इसलिए जगत सत्य है। अविद्या के कारण जीव बन्धन में पड़ा है। सम्प्रदाय के अनुयायियों की धारणा है कि उनके इष्टदेव श्रीकृष्ण गोलोक में राधादि के साथ आनन्द भोग में लीन रहा करते हैं और भक्तों का उनकी उपासना द्वारा सखी भाव को प्राप्त कर उनके निकट सदा विलास करना ही मोक्ष है। इनके मत में अखिल रसमूर्ति निखिल लीलाधाम श्रीकृष्ण ही यह परम ब्रह्म है।

जीव:—जीव अणु है ब्रह्म से अभिन्न ब्रह्म का ही अंश है। उसकी ३ अवस्थाएं हैं—शुद्ध, मुक्त, संसारी। स्फुलिंगवत् व्युच्चरण के समय आनन्दांश का तिरोधान होने पर अविद्या से संबन्ध होने से पूर्व जीव शुद्ध है। अविद्या के साथ संबद्ध होने वाला जीव संसारी कहलाता है। ये भी दो प्रकार के हैं। देव और असुर। देव जीव भी मर्यादा मार्गीय और पुष्टिमार्गीय भेद से भिन्न भिन्न होता है। भगवान् की कृपा से सत्संगादि पाकर विद्यालाभ करके परमानन्दस्वरूप मुक्ति का लाभ करता है। वह मुक्त जीव है। मुक्त जीवों में कतिपय जीवन्मुक्त होते हैं और कतिपय मुक्त। जीव सच्चिदानन्द भगवान् से नितान्त अभिन्न है। मुक्तावस्था में जीव आनन्द अंश को प्रकटित कर स्वयं सच्चिदानन्द बन जाता है और भगवान् से अभेद प्राप्त कर लेता है। तत्त्वमसि महावाक्य इसी अद्वैत सत्ता का प्रतिपादन करता है।

जगत्—इस विषय में आचार्य अविकृत परिणामवाद को स्वीकार करते हैं। कनक, कल्पवृक्ष प्रभृति के समान निर्गुण सच्चिदानन्दात्मक ब्रह्म ही अविकृत भाव से ही जगद्रूपेण परिणत होता है। जिस प्रकार कुंडलादि रूपों में परिणत होने पर भी सुवर्ण में किसी प्रकार का विकार नहीं उत्पन्न होता उसी प्रकार जगद्रूप से परिणत होने पर भी ब्रह्म में किसी प्रकार का विकार नहीं होता। जगत्, और संसार में एक विलक्षण पार्थक्य है। ईश्वरेच्छा के विलास से सदैव से प्रादुर्भूत पदार्थ को जगत् कहते हैं, परन्तु पंचपर्वा अविद्या के द्वारा जीव के द्वारा कल्पित ममतारूप पदार्थ की संज्ञा संसार है। अविद्या के पांच पर्व होते हैं स्वरूपाज्ञान, देहाध्यास, इन्द्रियाध्यास, प्राणाध्यास, अन्त:करणाध्यास। इस अविद्या की सत्ता रहने पर संसार है, अत: ज्ञानोदय होने पर संसार का नाश हो जाता है, परन्तु ब्रह्म रूप होने से जगत् का कभी विनाश संभव नहीं है। वह तो ब्रह्म तथा जीव के समान ही नित्य पदार्थ है।

श्री नियमानन्दाचार्य (आचार्य निम्बार्क) का द्वैताद्वैत सिद्धान्त:—

इस मत के आचार्य निम्बार्क माने जाते हैं, जो तैलंग ब्राह्मण थे। सिद्धान्तजीवी (प्रथम श्लोक) के अनुसार इनका वास्तविक नाम नियमानन्द था। कहते हैं

---

१. श्री दुर्गाशंकर केवल राम शास्त्री कृत 'वैष्णवधर्मनो संक्षिप्त इतिहास पृष्ठ २५८ (बम्बई १९३९)

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

किनिम्ब के वृक्ष पर अर्क (सूर्य) को रात के समय साक्षात् दर्शन कराने के कारण इनका नाम निम्बार्क (निम्बादित्य) पड़ा। इनके ग्रन्थ हैं—

वेदान्त—वेदान्त पारिजात सौरभ (ब्रह्मसूत्र का भाष्य) दशश्लोकी (सिद्धान्त प्रतिपादक दश श्लोकों का संग्रह) श्रीकृष्णस्तवराज (निम्बार्क तत्त्व प्रकाशक पच्चीस श्लोकों का है)।

आचार्य निम्बार्क ब्रह्म तथा जीव के सम्बन्ध में भेदाभेद (द्वैताद्वैत) के प्रतिपादक हैं। उनकी मान्य सम्मति में जीव अवस्था भेद से ब्रह्म के साथ भिन्न भी है तथा अभिन्न भी।

ईश्वर—ब्रह्म की कल्पना सगुण रूप में से की गई है। वह समस्त प्राकृत दोषों (अविद्यास्मितादि) से रहित और अशेष ज्ञान बल प्रभृति कल्याण गुणों का निधान है।[1] इस जगत् में जो कुछ दृष्टिगोचर है या श्रुतिगोचर है, नारायण उसके भीतर तथा बाहर व्याप्त होकर विद्यमान रहता है।[2] परमात्मा की ही पर-ब्रह्म, नारायण, भगवान् कृष्ण, पुरुषोत्तम प्रभृति संज्ञाएं हैं। जीव और ब्रह्म में भेदा-भेद सम्बन्ध स्वाभाविक और प्रत्येक दशा में नियत है। मोक्ष दशा में भी इसी प्रकार ब्रह्म से अभिन्न होने पर भी जीव स्वरूप की प्राप्ति करता है और अपने व्यक्तित्व को खो नहीं डालता।[3]

निम्बार्क मत में जीवन्मुक्ति की कल्पना मान्य नहीं है।[4]

जीवः—चित् या जीव ज्ञान स्वरूप है। इन्द्रियों की सहायता बिना इन्द्रिय निरपेक्ष जीव विषय के ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ है और प्रज्ञानघन, स्वयंज्योतिः तथा ज्ञानमय, प्रभृति शब्दों का जीव के विषय में प्रयोग इसी अर्थ में किया गया है। जीव ज्ञान का आश्रयादता भी है। अतः वह ज्ञानस्वरूप तथा ज्ञानाश्रय दोनों एक ही काल में इसी प्रकार है।[5]

जीव कर्ता है। प्रत्येक दशा में जीव में कर्तव्य का सद्भाव है। संसारी दशा में कर्ता होना तो अनुभवगम्य है, परन्तु मुक्त होजाने पर भी कर्तव्य की सत्ता जीव में श्रुतिप्रतिपादित है।

जीव अपने ज्ञान तथा भोग की प्राप्ति के लिए स्वतंत्र न होकर ईश्वर पर आश्रित रहता है।

जीव परिमाण में अणु तथा नाना है। वह हरि का अंश रूप है। ईश्वर सर्वशक्तिमान् है अतः वह अंशी है, जीव उसका शक्तिरूप है। अतः वह अंशरूप है। अघटन घटना पटीयसी, गुणमयी प्रकृति रूपिणी माया से आवृत होने के कारण जीव

---

१. दशश्लोकी, ४
२. सिद्धान्त जाह्नवी, पृष्ठ ५३
३. १।४।१ वर, वेदान्त कौस्तुभ
४. दशश्लोकी के ६ पद्य पर, वेदान्तरत्न मंजूषा
५. दशश्लोकी १

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

का धर्मभूतज्ञान संकुचित हो जाता है। भगवान् के प्रसाद से जीव के सच्चे स्वरूप का ज्ञान हो सकता है।[1]

बद्ध जीव मुक्ति का इच्छुक तथा विषयानन्द का इच्छुक भेद से दो प्रकार का है। मुक्त जीव भी नित्यमुक्त तथा मुक्तरूप से दो प्रकार का होता है।

अचित्—चेतनाहीन पदार्थ को कहते हैं। वह तीन प्रकार का होता है।[2] प्राकृत, अप्राकृत, काल। प्राकृत—महत्तत्व से लेकर महाभूत तक प्रकृति से उत्पन्न जगत्। अप्राकृत—प्रकृति के राज्य से बहिर्भूत जगत् जिसमें प्रकृति का सम्बन्ध किसी भी प्रकार से नहीं है जैसे भगवान् का लोक जिसकी श्रुतियों में परम व्योमन्, विष्णुपद, परमपद प्रभृति भिन्न-भिन्न संज्ञाएँ हैं। काल—काल अचेतन पदार्थ माना जाता है। जगत् के सम्पूर्ण परिणामों का जनक काल उपाधियों के कारण अनेक प्रकार का होता है। काल अखंडरूप है। स्वरूप से वह नित्य है, परन्तु कार्यरूप से अनित्य है। काल का कार्य औपाधिक है।

१. दशश्लोकी २ तथा 'वेदान्तरत्न मंजूषा' पृष्ठ २०—२३
२. दशश्लोकी ३

स्वामी दयानन्द

जीवन चरित्र

१३ वाँ नया संस्करण

२०२) पृष्ठों का : बढ़िया कागज पर

मूल्य २) : किन्तु १००) सैकड़ा

संक्षिप्त जीवनी : १०) सैकड़ा

दयानन्द चित्र कथा : ३०) सैकड़ा

दयानन्द संस्थान नई दिल्ली-५

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

गो-रक्षा या गो-वध ?

—प्रो० उमाकान्त उपाध्याय, एम०ए०

मिथ्या प्रचार का कारण

भारतीय संस्कृति और वेद की शिक्षा में 'गो-ब्राह्मण' का अद्वितीय स्थान है। अनादिकाल से गो-ब्राह्मण पूजा हमारी संस्कृति-सभ्यता का अभिन्न अंग रही है। गो-पूजा एवं गो-सम्मान में अश्रद्धा के लिए कभी स्थान न था। किन्तु आज शिखा-सूत्रधारियों की भावनाएँ प्रकम्पित हो उठी हैं। समाचार पत्रों, विचारपत्रों में, साप्ताहिक एवं अन्य सामयिक पत्रों में इस प्रकार के विचार निकल रहे हैं कि प्राचीन भारत में वैदिककाल में, वेद की शिक्षा में गो-वध का विधान था। इतनी असत्य मिथ्या बात का बलपूर्वक इतना प्रचार क्यों किया जा रहा है ?

इसका एक विचित्र कारण है। यह विचित्र कारण है विदेशियों द्वारा भारतीय इतिहास को भ्रष्ट एवं दूषित रूप देकर प्रचारित करना। विदेशी विजेता चाहे वे इस्लामी रूप में आये या ईसाइयत के रूप में आये, उद्देश्य दोनों का यही था कि विजित भारतीय जाति के जातीय गौरव को ऊपर न उठने दिया जाय। साथ ही वे भारतीय इतिहास की ऐसी व्याख्या करना चाहते थे जिससे हमारी सांस्कृतिक तथा राष्ट्रीय मान्यताएँ निर्बल पड़ें और भारत की जनता ईसाइयत की ओर आकृष्ट हो जाये।

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

'पश्चिमी विद्वानों का पक्षपात'[1]

विदेशी लोग शासक तो बनाते ही थे अब विद्वान भी बनाने लगे थे। हमारे विश्वविद्यालयों में हमारे नवयुवकों को इतिहास की भ्रष्ट व्याख्या पढ़ाई जाने लगी। इसी उद्देश्य से वेदों के अनुवाद हुए! ज्ञान-विज्ञान के प्रचार के नाम पर यह कार्य बड़ा ही घृणित और अन्यायपूर्ण हुआ। मैक्समूलर जैसे विद्वान् विश्वविश्रुत कीर्ति इस छल प्रपंच से मुक्त न रह सके। मैक्समूलर ने अपनी पत्नी के नाम एक पत्र लिखा है, उसका एक अंश नीचे देखिए:—

"I hope I shall finish that work and I feel convinced, though I shall not have to see it yet this edition of mine (of the Rig Veda) and the translation of the Vedas will hereafter tell to a great extent on the fate of India and on the growth of millions of souls in that country. It is the root of their religion and to show them what the root is, is I feel sure, the only way of uprooting all that has been sprung from it during the last three thousand years."[2]

अर्थात्—"मुझे आशा है कि उस काम को (वेदों का सम्पादन) पूरा कर दूंगा और मुझे निश्चय है कि यद्यपि मैं उसे देखने के लिए जीवित न रहूंगा तो भी मेरा ऋग्वेद का यह संस्करण और वेदों का अनुवाद भारत के भाग्य और लाखों भारतीयों की आत्माओं के विकास पर प्रभाव डालने वाला होगा। यह (वेद) उनके धर्म का मूल है और मूल को दिखा देना, उससे पिछले तीन हजार वर्षों में जो कुछ निकला है **उसको मूल सहित उखाड़ देने का एकमात्र असन्दिग्ध प्रकार है।**"

इससे सुस्पष्ट है कि विद्वत्ता की आड़ में मैक्समूलर और उसके साथी क्या कल्पना कर रहे थे, क्या योजना बना रहे थे। इसी प्रकार का उद्देश्य था जब आक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय में संस्कृत की गद्दी खुली थी। इसका वर्णन सुप्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् श्री मोनियर विलियम्स ने अपनी अत्यन्त प्रसिद्ध पुस्तक 'Sanskrit English Dictionary' की भूमिका में निम्न प्रकार से किया है—

That the special object of his (Boden's) **munificent bequest was to promote the translation** of the Scriptures into Sanskrit, so as to enable his Country men to proceed in the conversion of the natives of India to the Christian religion."

अभिप्राय यह है कि बोडन महोदय के उदार दान का मुख्य उद्देश्य ईसाई ग्रन्थों का अनुवाद करना था जिससे कि इंगलैंड वाले भारतीयों को ईसाई बनाने के कार्य में अग्रसर हो सकें।

---

१. विस्तृत विवरण के लिए पढ़िये।

(क) Bhagawat Datta—Western Indologist.

(ख) पं० धर्मदेव विद्यावाचस्पति, विद्या मार्तण्ड—वेदों का यथार्थ स्वरूप अध्याय २।

२. देखिए—Life and Letters of F. Max Muller.

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

पाश्चात्य विद्वानों की ये ही भावनाएँ थीं, ये ही योजनाएँ थीं जिस लिए वे भारत के प्राचीन इतिहास और धर्म ग्रन्थों का अनुवाद कर रहे थे। अपनी योजना पर उन्हें इतना भरोसा था कि मैक्समूलर ने उन दिनों के भारत मन्त्री को, जो इंगलैंड में रहते थे लिखा—

"The ancient religion of India is doomed and if Christianity does not step in, whose fault will it be?"

अर्थात्—भारत के धर्म का नाश अब निश्चित है और उसके स्थान पर यदि ईसाइयत न आ सके, तो यह किस की भूल है?

भारतीय इस छल के शिकार बने

यह इसी योजना का फल है कि आज भारत के कुछ पढ़े लिखे लोग कहने लगे हैं कि ऋग्वेद के समय में गायों का वध होता था और लोग मांस खाते थे तथा अपने अतिथियों को खिलाते थे।

क्लेटन (Clayton) नामक एक लेखक ने The Rigveda and Vedic Religion नामक पुस्तक में Animal Sacrifices (पशुवलि) के ऊपर लिखा। इसी प्रकार भारतीय विद्याभवन बम्बई से प्रकाशित "Vedic Age" में लिखा है।

'The guests are entertained with the flesh of cows got killed on the occasion of marriage'

अर्थात्:—अतिथियों को विवाह के अवसर पर गोमांस से तृप्त किया जाता था।

जो छलछद्म परिपूर्ण योजना लार्ड मैकाले ने बनाई थी[1] और जिसके सेनानी के रूप में मैक्समूलर इत्यादि विद्वानों ने ज्ञानदान और अन्वेषण अनुसंधान के पवित्र नाम को ईसाइयत के प्रचार के उन्माद में कलंकित किया, उसी दुरभिसंधि का दुष्परिणाम है कि हमारा आज का विद्यार्थी बिना किसी प्रमाण के स्वीकार कर लेता है कि ऋग्वेद में गोवध और गोमांस सेवन का विधान है। साक्ष्य हीन दावे, प्रमाण हीन दावे, प्रमाण हीन वक्तव्य को बुद्धिमान् स्वीकार नहीं करते। पर हम इन पाश्चात्य विचारधारा वालों की बात के लिए कोई प्रमाण नहीं पूछते। हम सोचते हैं कि ये विश्वविद्यालयों के महाविद्वान् हैं, जो लिखेंगे प्रमाण पुरस्सर लिखेंगे। सरल हृदय भारतीय यह सोचते ही नहीं कि पाश्चात्य छल के शिकार हो गये हैं। कोई श्री राहुल सांकृत्यायन को प्रमाण मान बैठा है तो कोई भारतीय विद्याभवन के प्रकाशन 'वैदिक एज' को। पर वेद मंत्रों में कहां गोवध है, कहां मांस भक्षण का विधान है? यह कोई नहीं लिखता।

---

1. English education would train up a Class of persons Indian in blood and colour, but English in, tastes in opinions, in morals and in intellect.

अर्थात्:—अंग्रेजी शिक्षा एक ऐसा वर्ग तैयार करेगी जो रुधिर और रंग में भारतीय तथा रुचि, सम्मति, आचार, व्यवहार और बुद्धि में अंग्रेज होगा।

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

वेद और गाय

वेद में सुस्पष्ट उपदेश है कि गोवध नहीं करना चाहिए। हम सर्वप्रथम ऋग्वेद को ही देखते हैं—

ऋग्वेद में गोवध निषेध—

'माता रुद्राणां दुहिता वसूनां
स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः।'
प्रनुवोचं चिकितुषे जनाय
मा गामनागामदितिं वधिष्ट ॥

ऋग्वेद ८-१०१-१५

अर्थ—गाय रुद्र ब्रह्मचारियों की माता, वसुओं की बेटी और आदित्यों की बहिन तथा अमृत का केन्द्र है। विचारशील मनुष्य के लिए उपदेश है कि गाय अखण्डनीय है, निर्दोष है, उसे मत मार।

यजुर्वेद में गोवध निषेध—

इमं साहस्रं शतधारमुत्सं व्यच्यमानं सरिरस्य मध्ये।
घृतं दुहानामदितिं जनायाग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन् ॥

यजु० १३-४९

अर्थ—हे परोपकारी राजन्! तुम मनुष्यों के असंख्य सुख साधन, दुग्ध के लिए बहुविधि पालनीय, घृत देने वाली, अखण्डनीय गाय को मत मारो।

राजा के लिए इस उपदेश का तात्पर्य सुस्पष्ट है कि कानून के द्वारा गोवध सर्वथा बन्द हो जाना चाहिए।

अथर्ववेद में गोवध निषेध—

अन्योन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या।

अथर्व० ३-३०-१

अर्थ—एक दूसरे को इस प्रकार प्यार करो जैसे अहन्तव्य अघ्न्या गाय अपने बछड़े को प्यार करती है।

गोघातक को प्राणदण्ड—

वेदों में गोहत्या करने वाले को प्राण दण्ड देने का विधान किया गया है—

'अन्तकाय गोघातकम्॥ यजु० ३०-१८

अर्थ—गोहत्या करने वाले को प्राण दण्ड दिया जाय। अथर्व वेद में गोहत्या करने वाले को गोली से मार देने का विधान है।

यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम्।
तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो अवीरहा॥

—अथर्व० १-१-६४

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

अर्थ—यदि तुम हमारे गाय-घोड़े तथा पुरुष को मारोगे तो हम तुम्हें गोली से उड़ा देंगे, जिससे फिर तुम हमें हानि पहुँचाने के लिए न बच सको।

महाभारत में गोवध निषेध

अघ्न्या इति गवां नाम, क एता हन्तुमर्हति ।
महच्चकाराकुशलं, वृषं गां वालभेत्तु यः ॥
शान्ति पर्व २६२-४७

गायों का नाम अघ्नया, अवध्या है, इन्हें कौन मार सकता है? जो गाय और बैल को मारता है वह महापाप करता है।

यहाँ यह सुस्पष्ट हो जाता है कि वैदिक साहित्य में गोवध का निषेध ही है, विधान नहीं है। जो लोग ऐसा कहते हैं कि वैदिक साहित्य में गोवध का विधान है, उन्हें वेदों से परिचय नहीं है। वे तो दूसरों की बताई बात करते हैं, दूसरों के छल के शिकार हो गए हैं।

अब दो एक शब्दों पर और विचार करना है—

गोघ्नोऽतिथिः

'गोघ्न' शब्द अतिथि का पर्यायवाची है। बस, अब क्या था? उर्वर कल्पना-कृत अर्थों की भरमार।

महान् वैयाकरण आचार्य पाणिनि का सूत्र है।

"दाशगोघ्नौ सम्प्रदाने"—३-४ ७३

अर्थ—दाश और गोघ्न शब्दों को सम्प्रदान कारक में निपातन से निष्पन्न किया जाता है।

गोघ्न की व्याख्या है **'गौर्हन्यते तस्मै गोघ्नः'** इस व्याख्या में कोई मतभेद नहीं है। पर हन्यते का अर्थ केवल 'मारी जाती है' इतना ही नहीं है। हन्यते का अर्थ है गम्यते, प्राप्यते अर्थात् दी जाती है।

हन् धातु का अर्थ है हिंसा और गति। आचार्य का धातु पाठ है **'हन् हिंसा-गत्योः'** और गति के तीन अर्थ हैं ज्ञान, गमन तथा प्राप्ति। यहाँ हन्यते का अर्थ गम्यते, प्राप्यते है। वस्तुतः अतिथि को तो गोदान किया ही जाता था।

वादितोषन्याय से यदि एक क्षण के लिए मान लें कि गोघ्न में हन्यते का अर्थ मारना है तो गाय तो चाण्डाल के लिए भी मारी जा सकती है, अतः गोघ्न चाण्डाल को भी कहना चाहिए। पर प्रसिद्ध वैयाकरण काशिकाकार लिखते हैं—

"गोघ्नो अतिथिः नतु चाण्डालादिः"

गोघ्न इसीलिए अतिथि को कहते हैं क्योंकि उसे गाय दी जाती है। चाण्डाल को गोघ्न नहीं कहते, क्योंकि वह गो-घातक है।

हन्यते का अर्थ गम्यते बहुत जगहों पर होता है। आचार्य पाणिनि का सूत्र है—**'उपघ्न आश्रये'** ३-३-८५

इसका उदाहरण है 'पर्वतोपघ्नः' व्याख्या है 'पर्वतेनोपहन्यते सामीप्येन गम्यते' जैसे पर्वतोपघ्नः में हन्यते का अर्थ है गम्यते उसी प्रकार गोघ्नः में भी हन्यते का अर्थ गम्यते है।

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

"अतिथिग्व"

'वैदिक एज्' के भूमिका लेखक और भारतीय विद्याभवन के संस्थापक स्व० कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी जी के 'लोपा मुद्रा' में प्रकाशित विचार के अनुसार उस समय 'अतिथिग्व' वह सम्मान सूचक उपाधि थी, जिसका अर्थ उन्होंने अतिथियों को गोमांस परोसने वाला किया है।[1]

महर्षि दयानन्द सरस्वती तथा श्री सायणाचार्यादि ने 'अतिथिग्व' का अर्थ किया है, 'अतिथीन् प्रति सेवार्थं गच्छन्' सेवा के लिए अतिथियों के पास जाने वाला। इसमें श्री मुंशी जी को गोवध और गोमांस कहाँ से दिखाई पड़ गया? इसमें तो योरुप की गुरुमण्डली को भी गोमांस दिखाई न पड़ा था—

मोनियर विलियम्स ने इसका अर्थ किया है 'To whom guests should go' अर्थात् जिसके पास अतिथि जाय।

ब्लूमफील्ड ने अतिथिग्व का अर्थ किया है 'Presenting cows to guests' अतिथियों को गायें भेंट करने वाला।

इतने प्रमाणों के पश्चात् इसमें कोई संदेह नहीं रहता कि वेदों में गोरक्षा का विधान है और गोवध करने वाले को प्राण दण्ड देने का विधान है।

अब एक प्रश्न है कि जब वेदों में गोवध नहीं है तो मध्यकाल के ग्रन्थों में जो कहीं-कहीं मांस शराब का विधान है वह कहाँ से आ गया?

मांस और शराब के प्रचारकों की मण्डली को रावण और कंस ने बनाया और सहारा दिया। गोब्राह्मण विद्वेष की भावना वालों ने वेदों के नाम पर मांस शराब का प्रचार किया। वस्तुतः यह सब वेदों में नहीं है, धूर्तों की माया है—

सुरा मत्स्या मधु मांसमासवं कृशरौदनम्।
धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद् वेदेषु विद्यते॥

—महाभारत शान्ति पर्व २६५।६

अर्थात्—शराब, मछली, मांस, आसवादि का प्रचार धूर्तों ने किया; यह सब वेदों में नहीं है।

कंस ने गोब्राह्मण विध्वंस की योजना बनाई थी—

तस्मात्सर्वात्मना राजन् ब्राह्मणान् ब्रह्मवादिनः।
तपस्विनो यज्ञशीलान् गाश्च हन्मो हविर्दुघाः॥

इधर जब विदेशी हमारे देश में आये तो उन्होंने आर्यसंस्कृति और विचारों को भ्रष्ट करने के लिए हमारे ग्रन्थों में प्रक्षेप किये[2], अल्लोपनिषद् और खीष्टोपनिषद् जैसी पुस्तकें लिखीं और ऋषि मुनियों के नाम से श्लोक रचनाएँ हुईं। अतः वह सब अविश्वसनीय है, असत्य है।

---

१. देखिए—धर्मदेव विद्यावाचस्पति, विद्या मार्तण्ड कृत 'वेदों का यथार्थ स्वरूप' पृ० २६८

२. देखिए, रघुनन्दन शर्माकृत 'वैदिक सम्पत्ति तृतीयखण्ड

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

आज भी तो नाम रखा है 'भारतीय विद्या भवन' संचालक-लेखक भारतीय हैं पर एक छलछद्मपूर्ण बाह्य विचारधारा से प्रभावित होकर भारत की प्राचीन प्रणाली का अन्यथा रूप सामने लाया जा रहा है।

अन्त में भारत या भारतीयता के नाम पर हम सच्चाई छिपाने के लिए नहीं कहते। 'सत्य के ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।'[1]

'गा आदि पशुओं का नाश होने से राजा और प्रजा दोनों का नाश होता है। क्योंकि जब पशु न्यून होते हैं तब दूध आदि पदार्थ और खेती आदि कामों की भी घटती होती है।"

—महर्षि दयानन्द सरस्वती

"शुभ गुण युक्त, सुखकारक पशुओं के गले छुरों से काटकर, जो अपना पेट भर, सब संसार की हानि करते हैं, क्या संसार में उनसे भी अधिक कोई विश्वासघाती, अनुपकारी, दुःख देनेवाले और पापीजन होंगे।'

—महर्षि दयानन्द सरस्वती

नई......नई......बिल्कुल नयी

सशक्त भाव भरी श्रद्धापूर्ण भाषायुक्त

महर्षि दयानन्द की जीवनी

१६ चित्र : पृष्ठ २१२
तिरंगा बढ़िया कवर : मूल्य १)५० ।

शीघ्रता कीजिए :

भारी संख्या में मंगाकर बांटें

दयानन्द संस्थान नई दिल्ली-५

1. आर्यसमाज का चतुर्थ नियम।

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

वैदिक शिक्षा पद्धति व सांस्कृतिक पुनरुत्थान : आर्यसमाज की भूमिका

—प्रकाश नारायण शास्त्री

भारतीय शैक्षणिक समस्याओं के समाधान एवं शिक्षा के विकास में आर्यसमाज के प्रयासों का ऐतिहासिक महत्त्व है, आर्यसमाज ने देश में जहाँ धार्मिक तथा सांस्कृतिक सुधारों का अभूतपूर्व आदर्श उपस्थित कर जनोपयोगी कार्यक्रमों को अपनाया वहीं उसके नेताओं ने शैक्षणिक क्रान्ति को भी, सामाजिक लक्ष्यों की प्राप्ति की दिशा में साधन बना लिया। आर्यसमाज के शिक्षा सम्बन्धी कार्यों से प्रभावित होकर एक बार स्वर्गीय प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि—'आर्यसमाज ने लड़के लड़कियों की शिक्षा, स्त्रियों की दशा में सुधार और दलितों को ऊँचा उठाने की दिशा में बड़ा अच्छा कार्य किया है।' डी० ए० वी० विद्यालय तथा महाविद्यालय, आर्य कन्या विद्यालय, संस्कृत विद्यालय आदि के रूप में सैकड़ों की संख्या में कार्यरत आर्यसमाज के शिक्षा संगठनों ने शिक्षा के फैलाव, लड़कों के समान लड़कियों की शिक्षा व्यवस्था तथा वैयक्तिक—शिक्षा के बजाय 'शिक्षा' के सामाजिक स्वरूप के निर्माण की दिशा में प्रशंसनीय योग दिया है। समता मूलक शिक्षा व्यवस्था के लिए प्रख्यात ये शिक्षण संस्थायें प्रारम्भ से ही राष्ट्र भाषा हिन्दी के प्रचार व प्रसार में संलग्न रही हैं। इस प्रकार राष्ट्र-सेवा तथा समाज सेवा के लिए इन शिक्षा संस्थाओं की क्षमता उल्लेखनीय है। उपर्युक्त शिक्षण संगठनों के प्रथम संस्थापक व प्रेरणास्वरूप आर्यसमाज के तपस्वी नेता महातमा हंसराज जी का नाम भारतीय शिक्षा जगत् कभी नहीं भूलेगा।

स्वामी दयानन्द का शैक्षणिक नवोन्मेष

मौलिक दृष्टि से, शिक्षा क्षेत्र में आर्यसमाज का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आन्दोलन गुरुकुलों की स्थापना से सम्बन्धित है। यह वर्तमान को पुरातन से जोड़ने का उपक्रम है। भारत में गुरुकुलीय शिक्षा के संदर्भ में वेदकालीन तथा उत्तरवर्ती वेदकालीन शिक्षा संगठनों की अपनी विशिष्ट प्रणाली तथा उन्नत आदर्श रहे हैं। वेदोद्धारक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सैद्धान्तिक दृष्टि से अपनी चिन्तन धारा में गुरुकुलीय व्यवस्था को स्थान दिया है। यही कारण है कि स्वामी जी ने, सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास में शिक्षा के जिस ढाँचे एवं आदर्श की रूप रेखा वर्णित की है, वह भारत के उन्नत सांस्कृतिक मूल्यों के अनुकूल है। स्वामी जी शिक्षा को केवल शिक्षा के लिए नहीं अपितु उसे ऐसे अनुकूल वातावरण (ब्रह्मचर्य आश्रम) में प्रयोग के पक्षपाती थे जहाँ शिक्षार्थी सही मानों में पवित्र आचरण तथा संतुलित मर्यादाओं से युक्त होकर गुरु (शिक्षक) से विद्या प्राप्त करे तथा भविष्य में आने वाले सामाजिक जीवन (गृहाश्रम) में आर्यत्व का प्रतिपादन कर सके। इसी समुल्लास में स्वामी जी ने शिक्षा के विभिन्न पहलुओं की चर्चा की है। उनमें प्रमुख रूप से गुरुकुलों में सामाजिक—शिक्षा का वर्णन, सहशिक्षा (लड़के-लड़कियों की साथ में शिक्षा) का निषेध, शिष्य के स्वाध्याय तथा गुरु के प्रवचन का प्रतिमानित स्वरूप, त्यागने

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

योग्य विचार तथा ग्रंथ, विद्वान् तथा विद्यार्थी के कर्त्तव्य, स्त्रियों तथा शूद्रों सहित सभी को विद्या का अधिकार, विद्यार्थियों के लक्षण, पठन-पाठन (पाठ्यक्रम) का क्रम व उसके नियम आदि सभी अंगों पर, संक्षिप्त प्रकाश डाला है। इस प्रकार स्वामी दयानन्द ने वैदिक कालीन शिक्षा व्यवस्था का भारतीयों के लिए नवोन्मेष किया जो अतीत के सांस्कृतिक मूल्यों और गुरुकुलीय शिक्षा व्यवस्था का पुनरुद्धार है। वर्तमान शिक्षा जगत् में यह प्रकरण दयानन्द और आर्यसमाज का शैक्षणिक नवोन्मेष माना जाएगा।

गुरुकुलीय आदर्श का परीक्षण

प्राचीन भारत की परम्परा में विद्या केन्द्र के रूप में गुरुकुलों का बड़ा ही गौरवशाली स्थान था, विद्यार्थी यहाँ जीवन के प्रारम्भिक २५ वर्ष तक गृहाश्रम से पृथक् रह गुरु के चरणों में ज्ञानार्जन करते थे। अपनी तपस्या व साधना से इन वर्षों के अनन्तर अपनी नैतिक, चारित्रिक तथा आत्मिक शक्तियों को विकसित करके शिक्षार्थी नए जीवन में प्रवेश की तैयारी करता था। आधुनिक जमाने में इस व्यवस्था को व्यवहारिक रूप देने का श्रेय आर्यजगत् के महान् संन्यासी अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द को है। २०वीं शताब्दी में जब राष्ट्रीयता और संस्कृति की उत्थान की भावनाएं जोर पकड़ रही थीं, स्वामी जी ने सन् १९०३ में गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार की स्थापना कर स्वामी दयानन्द की कल्पना को आकार दिया। विश्व भारती, अरविंद आश्रम, काशी विद्यापीठ, जादवपुर टेकनिकल कालेज जैसी शिक्षा संस्थाओं की स्थापना भी भारतीय संस्कृति तथा राष्ट्रीयता से ओतप्रोत होकर की गई। परन्तु स्वामी श्रद्धानन्द जी द्वारा गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना अपने ढंग का अनुपम आंदोलन सिद्ध हुआ। गुरुकुल वृन्दावन का आरम्भ सन् १९०२ में सिकंदरावाद नामक स्थान पर हुआ था पर इसकी विधिवत्-स्थापना सन् १९११ में वृन्दावन में की गयी। गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार एवं गुरुकुल वृन्दावन के संचालन का दायित्व क्रमशः आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब और आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश पर है। इन गुरुकुलों की स्थापना के बाद आर्यसमाज के संन्यासी महात्माओं तथा आर्य नेताओं के नेतृत्व में जगह-जगह गुरुकुलों की स्थापना का कार्य बढ़ना प्रारम्भ हुआ और सैकड़ों की संख्या में गुरुकुलों की स्थापना हुई।

आर्यसमाज के इन गुरुकुलों में ६ से ८ वर्ष के आयु वाले बालकों को प्रवेश मिलता है। १४ वर्ष के उपरांत वे यहाँ से स्नातक बनकर निकलते हैं। उनका खान-पान सादा तथा दिनचर्या गुरुकुल के नियमों के अनुसार होती है। वेद वेदांग, उपनिषद्, शास्त्र, आयुर्वेद अनुसंधान, तथा प्राचीन भारतीय साहित्य और इतिहास के उच्च ग्रन्थों के साथ-साथ लगभग सभी आधुनिक विषयों का अध्ययन गुरुकुलों में कराया जाता है। पाठ्य क्रम के अनुसार संस्कृत भाषा का अध्ययन यहाँ अनिवार्य है, हिंदी के माध्यम से शिक्षा प्रदान की जाती है। राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार व प्रसार की दृष्टि से गुरुकुलों की भूमिका अविस्मरणीय है। गुरुकुलीय पद्धति के अंतर्गत सह-शिक्षा की पाश्चात्य परम्परा का निषेध है। लड़कियों के लिए कन्या गुरुकुल देहरादून, गुरुकुल सासनी, कन्या गुरुकुल हाथरस तथा कन्यामहाविद्यालय बड़ौदा गुजरात जैसी प्रमुख संस्थायें स्थापित हुई हैं। संस्कृत के साथ-साथ सामान्य शिक्षा के प्रचलित विषयों के अतिरिक्त भाषाओं एवं गृह कला की विशेष शिक्षा देने

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

की व्यवस्था इन कन्या गुरुकुलों में देखने को मिलती है। अनुशासन तथा मर्यादा के स्वाभाविक पर्यावरण में रख कर लड़कियों को भारतीय नारी के आदर्श के अनुरूप निर्माण करने का प्रयत्न सराहनीय है। शिक्षा के गुरुकुलीय आदर्श को ध्यान में रख कर स्वामी श्रद्धानन्द ने भारतीय शिक्षा के क्षेत्र में वैदिक शिक्षा पद्धति का परीक्षण किया, निश्चय ही वे परीक्षण श्लाघ्य हैं। गुरुकुलों ने अपने स्थापना काल से ही भारतीय ज्ञान के संरक्षण व प्रसार में कार्य किया है। भारतीय चिकित्सा प्रणाली (आयुर्वेद) के पुनरुद्धार में गुरुकुलों का विशेष महत्व है। संस्कृत के महत्त्व को दृष्टि में रखकर संस्कृत भाषा और साहित्य की शिक्षा की समुचित व्यवस्था व हिन्दी के माध्यम से शिक्षा के व्यवहार का पालन करने के लिए गुरुकुलों की महत्ता किसी से छिपी नहीं है। वर्तमान युग में गुरुकुलों के संगठन और कार्य व्यवस्था ने वैदिक शिक्षा पद्धति की उपयोगिता का सफल उदाहरण प्रस्तुत किया है।

वर्तमान शिक्षा प्रणाली की समस्याओं के समाधान में गुरुकुलीय शिक्षा

वर्तमान शिक्षा व्यवस्था में व्याप्त असंगतियों पर बड़े-बड़े सम्मेलन, गोष्ठियों का आयोजन देखने को मिलता है। शिक्षा जगत् में गुरु शिष्य के बीच अनुशासन का निरन्तर ह्रास, शिक्षा का अनिर्धारित आदर्श, दूषित वातावरण और एकांगी दृष्टिकोण, नैतिक शिक्षा का अभाव, अनुपयुक्त शिक्षा प्रणाली आदि ऐसी अनेक समस्याएं व्याप्त हो गई हैं। शिक्षाविदों का वर्तमान चिन्तन इन के समाधान के लिये लालायित है। इन समस्याओं के समाधान की दिशा में वैदिक शिक्षा पद्धति के आदर्शों व मर्यादाओं से प्रेरणा लेकर सामाजिक शिक्षा के गुरुकुलीय स्वरूप को लागू किया जाय तो बहुत कुछ इन समस्याओं का हल ढूंढ़ा जा सकता है। सम्भव है कि इस प्रयोग से शिक्षा जगत् को समाधानपरक चिन्तन का समन्वित आधार प्राप्त हो जाय। क्योंकि शिक्षा की समस्याओं के समाधान की दिशा में एकांगी दृष्टिकोण घातक है। चाहे वह भौतिक दृष्टिकोण हो या आध्यात्मिक। आजकल व्यवसाय परक शिक्षा का विचार जोरों पर है। शिक्षा को जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति में उपयोग करना बहुत अच्छी बात है परन्तु शिक्षा से जीवन के व्यवसाय को ही जोड़ा जाय यह ठीक नहीं है। उसे तो जीने की कला से भी जोड़ना होगा। अन्यथा नैतिकता के बिना व्यवसाय के भ्रष्ट हो जाने का खतरा विद्यमान है। इसलिए व्यवसाय को नीति प्रधान तथा शिक्षा को जीने की कला से सयुक्त होना नितांत आवश्यक है। स्व० राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन् का विचार था कि "अब यह बात अधिकाधिक स्वीकार की जाने लगी है कि शिक्षा के प्रति संतुलित दृष्टिकोण का विकास किया जाना चाहिए। मानसिक प्रशिक्षण के साथ-साथ कल्पना शक्ति और मनोभावों को निर्मल बनाया जाना चाहिये। जिज्ञासु मस्तिष्क, अंतर्ज्ञानी हृदय, चेतनशील आत्मा और छानबीन करने वाले विवेक का विकास किया जाना चाहिये।......। सौंदर्यात्मक और आध्यात्मिक उत्कर्ष पूर्ण मानव के निर्माण में योग देता है। मानव के निर्माणकारी पहलू का विकास कला के द्वारा होता है।" स्व० राष्ट्रपति के उपर्युक्त विचारों तथा गुरुकुलीय शिक्षा पद्धति की मान्यताओं में बहुत कुछ संगति मिलती है।

अपने शताब्दी वर्ष में आर्यसमाज को चाहिये कि वह गुरुकुलीय शिक्षा के मूल सिद्धांतों, आदर्शों व पर्यावरण की स्थिति में किसी भी प्रकार का परिवर्तन अमान्य करते हुए पाठ्यक्रम का विस्तार कराये। पाठ्यक्रम में विज्ञान व शिल्पशास्त्र के विविध पक्षों का अध्ययन, वैज्ञानिक प्रविधियों का प्रशिक्षण तथा अनुसंधान

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

शालाओं के आधुनिक ढंग से विकास का व्यवस्था का संयोजन होना चाहिये। स्वामी दयानन्द सरस्वती तो विज्ञान व शिल्प शास्त्र की उन्नति के घोर पक्षपाती थे। बदलते हुये परिवेश में गुरुकुलों में वैज्ञानिक शिक्षा का पुनर्गठन नितांत आवश्यक है। इसी से विद्यार्थियों में साहित्यिक तथा भौतिक मूल्यों के बीच समन्वय स्थापित हो सकेगा। कहा जाता है कि जड़ चेतन के बिना विकास शून्य है और चेतन जड़ के बिना आकार शून्य है। इन दोनों की क्रिया और प्रतिक्रिया ही जीवन है। उसी प्रकार साहित्य की भावनात्मकता तथा विज्ञान की बौद्धिकता सम्बन्धी क्रिया प्रतिक्रिया का अनुभव प्राप्त करना ही शिक्षा है।

१९७६ के लिए आकर्षक डायरी

वैदिक-दैनन्दिनी (डायरी)

नयी साज सज्जा

अनेकों आकर्षण युक्त

पहले से दुगने पृष्ठ

२४ रंगीन चित्र

साइज़ पहले जितना

एक पृष्ठ पर एक तिथि : दूसरा संस्करण

मूल्य

अजिल्द ५) =३२५) सैंकड़ा

सजिल्द ६) =४००) सैंकड़ा

१९७६ का आकर्षक कैलेंडर

५ रंगों में छपा : बड़े साइज़ का कैलेंडर

तैयार है

५०) सैंकड़ा

अपना आदेश तुरन्त भेजें

दयानन्द संस्थान, नई दिल्ली-११०००५

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

आत्मा और परमात्मा

स्वामी आत्मानन्द सरस्वती

(पिछले अंक का शेष)

महात्मन् ! यदि जीवात्मा को ही विभु कहना होता तो दिशा, काल और आकाश के साथ ही विभुद्रव्यों के मुख्य प्रकरण में ही उसका भी उल्लेख कर दिया जाता, परन्तु ऐसा किया नहीं गया, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि यह उल्लेख जीवात्मा के परिमाण के सम्बन्ध में नहीं एक दूसरे आत्मा परमात्मा के परिमाण के सम्बन्ध में है।

वि०बो०—भगवन् ! आप तो परमात्मा मानते ही नहीं क्योंकि पदार्थगणना में उसका कहीं नाम नहीं आया।

म० क०—महात्मन् ! ऐसी बात नहीं, परमात्मा का नाम पदार्थ गणना में आया है, सूत्रकार अपने लेख को अधिक से अधिक संक्षिप्त करने का साधन ढूंढ़ा करते हैं और इसलिए एक-एक अक्षर की बचत को भी वे बड़ा महत्त्व दिया करते हैं, जब कि एक आत्मा कहने से ही दोनों आत्माओं का नाम निर्देश समझा जा सकता है, तो दूसरी बार परमात्मा शब्द को लिखने की क्या आवश्यकता थी। हमारे समान तन्त्र, महर्षि गौतम के ग्रन्थ न्याय में भी आप इसी प्रथा को प्रचलित देखेंगे, उन्होंने भी प्रमेय पदार्थों में केवल आत्मा को गिनाया है और इस एक ही शब्द से परमात्मा का भी निर्देश समझ लिया गया है। कहीं कोई यह आशंका करे कि वे भी ईश्वर को न मानते होंगे, सो ऐसी बात नहीं। उन्होंने भी प्रसंगवश परमात्मा के कार्य को बतलाते हुए अपने शास्त्र में ही अन्यत्र लिखा है—

"ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्" न्याय० अ० ४ सू० १९।

(ईश्वर जगत् का कारण है क्योंकि पुरुष के कर्म का उसकी सहायता के बिना फल नहीं मिल सकता)। इस प्रकार पदार्थ गणना में परमात्मा का पृथक् उल्लेख न करते हुए भी उसका विशेष कार्य बतलाते हुए इस प्रकरण में उन्होंने उसे प्रकट कर दिया है। इसी प्रकार हमने भी पदार्थ-गणना में उसे आत्मा शब्द से ही लिखकर "विभवान् महानाकाशस्तथा चात्मा" (आकाश व्यापक और उसी की तरह आत्मा अर्थात् परमात्मा भी व्यापक और महान् है) इस सूत्र में उसे सर्वत्र व्यापक बतलाते हुए उसका पृथक् उल्लेख कर दिया है। उसके इस परिमाण का निदर्शन कर देने मात्र से ही मनुष्य को उससे प्राप्त होने वाले लाभों की ओर ध्यान दिलाने का संकेत है। इस संकेत से समझे जाने वाले लाभ निम्नलिखित तथा अन्य भी हो सकते हैं।

(१) आत्मा को अपनी आत्मा में समझने वाला मनुष्य उस प्रभु को द्रष्टा जान पाप की ओर पग बढ़ाने से बच सकता है।

(२) उसे सर्वत्र व्यापक समझने वाला मनुष्य उसे अपने हृदय में भी विद्यमान जानकर कहीं और ढूंढ़ने की निष्फल चेष्टा न करेगा।

(३) उसे अपनी आत्मा में जानने वाला मनुष्य इतने विशाल विज्ञान और आनन्द के भंडार महान् कोश के अपनी आत्मा में विराजमान होते हुए भी, मैं दुःखी तथा निर्धन क्यों रहूँ, यह समझता हुआ उसके उस महान् कोश को प्राप्त करने की चेष्टा करेगा।

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

इस प्रकार जगन्नियन्ता सब कल्याणों के भण्डार भगवान् की समीपता से लाभ उठाने वाला मनुष्य अपने सारे ही दोषों के परिहार और उस प्रभु के अनेक पवित्र गुणों के दृश्य को लक्ष्य में रख उन्हें अपने आत्मा में संग्रह करने का प्रयत्न करता हुआ अपने आपको मोक्ष के प्रधान द्वार तक ले जा सकेगा। इस दृष्टि से भगवान् के इस एक ही गुण विभु परिमाण का यहां अनेक लाभों को ध्यान में रखते हुए प्रसंगवश उल्लेख कर दिया है। मैं समझता हूँ कि मेरे भाषण से आपका समाधान हो गया होगा, अतः मैं अपने प्रवचन को यहीं समाप्त करता हूँ।

आ० बो०—सभासद् वृन्द ! आपने पूज्यपाद महर्षि कणाद का सारगर्भित भाषण ध्यानपूर्वक सुना है। आज तक लोगों को जो यह भ्रम था कि महर्षि कणाद आत्मा को व्यापक मानते हैं और ईश्वर का उन्होंने कहीं निरूपण नहीं किया, वह भ्रम आपके आज के भाषण से दूर हो गया। न्यायशास्त्र के रचयिता भगवान् अक्षपाद महर्षि को भी आप सब लोग भली-भांति जानते हैं। आपका शास्त्र ही तो सब व्यवहारों, सब विद्याओं और सब शास्त्रों का आधारभूत है। अतः अब आप भगवान् अक्षपाद महर्षि के विचार प्रेम से सुनिये। मैं महर्षि जी से प्रस्तुत विषय पर अपने विचार प्रकट करने के लिए प्रार्थना करता हूं—

अ० पा० म०—महात्मन् ! मुझे विचार प्रकट करने में तो कोई आपत्ति नहीं, परन्तु भाई कणाद जी जो कुछ कह चुके हैं, मेरे भाषण का भी लगभग वह ही विषय हो सकता है, क्योंकि उनका और हमारा तन्त्र समान है।

अ० बो०—भगवन् ! महर्षि कणाद छः पदार्थ मानते हैं और आप सोलह। इस मतभेद के होते हुए आपका और उनका समान तन्त्र कैसे हुआ ?

अ० पा० म०—महात्मन् ! सोलह में छः अन्तर्भूत हैं और छः में सोलह। पदार्थ दोनों शास्त्रों में ही माने गये हैं। अन्तर केवल उनके विभाग करने में है और इस अन्तर से सिद्धान्त में कोई दोष नहीं आता। एक ही विषय का वर्णन कई प्रकार से किया जा सकता है। आप यदि गहराई में जाकर देखेंगे तो पता लगेगा कि सब दर्शन एक ही विषय का विभिन्न शैलियों से वर्णन कर रहे हैं।

वि० बो०—भगवन् ! आप आत्मा को व्यापक मानते हैं और महर्षि कणाद अणु। कहिए इस मतभेद का क्या प्रतीकार होगा ?

अ. पा. म.—आपने यह कैसे जाना कि भाई कणाद आत्मा को अणु मानते हैं ?

वि. बो.—इसी प्रकार कि वे आत्मा में क्रिया मानते है।

अ० पा० म०—और यह कैसे समझा कि हम आत्मा में क्रिया नहीं मानते ? आपने न्याय दर्शन पढ़ा होगा और आप यह जानते होंगे कि हमने प्रमेय का विभाग करते हुए बारह प्रमेय माने हैं। उन बारह में से एक प्रमेय प्रेत्यभाव भी है। आप यह भी जानते होंगे कि प्रेत्यभाव आत्मा का होता है। आप इस शब्द के "प्रेत्य" अंग पर विशेष ध्यान दीजिये। यह शब्द प्र उपसर्ग इण धातु और(क्त्वा) ल्यप् प्रत्यय के प्रयोग से बना है। 'इण' धातु का अर्थ गति है और गति का अर्थ है क्रिया और प्र शब्द के साथ जोड़ देने से "प्रेत्य" शब्द का अर्थ 'प्रकृष्ट क्रिया करके' ऐसा हो जाता है। आपने कहा था कि महर्षि कणाद आत्मा में क्रिया मानते हैं। देखिए हम तो आत्मा में क्रिया ही नहीं प्रकृष्ट क्रिया अर्थात् विशेष क्रिया मानते हैं। इस विशेष क्रिया का नाम है "परायण" अर्थात् इस शरीर को छोड़कर जाना। प्रेत्यभाव शब्द का दूसरा अंश है भाव, इसका अर्थ है 'होना' अर्थात् दूसरे शरीर में आना, इन दोनों अर्थों

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

को मिलाकर इस शब्द का अर्थ जाना आना अर्थात् आगमन हो जाता है। अब तो आप समझ गये होंगे कि हम भी आत्मा को क्रियावान् मानते हैं और इसीलिये हमारे मत में भी आत्मा का परिमाण अणु ही है।

वि० बो०—हाँ महाराज! ठीक समझ गया परन्तु अब तो मैं एक और उलझन में पड़ गया।

अ० पा० म०—कैसी उलझन?

वि० बो०—देखिये, आपने एक स्थान पर प्रसंग चलाया है कि आत्मा को जो ज्ञान होता है उसके संस्कार उसमें रह जाते हैं और उन संस्कारों से आत्मा और मन के संयोग द्वारा स्मरण हुआ करता है। इससे आगे चलकर कहा कि यह संयोग जब तक किसी कारण से नष्ट नहीं कर दिया जाता, आत्मा में ही बना रहता है और इसी आधार पर यह शंका की कि जब सब संस्कार आत्मा में ही हैं तो आत्मा के साथ मन का संयोग होते ही सारे सस्कारों से एक ही काल में सब स्मृतियें क्यों नहीं हो जातीं? इसके उत्तर में किसी एकदेशी ने कहा कि—

'ज्ञानसमवेतात्म प्रदेशसन्निकर्षान्मनसः स्मृत्युत्पत्तेर्न युगपदुत्पत्तिः' [न्याय० ३. २. २५]

(शरीर से बाहर या अन्दर आत्मा के जिस २ भाग से संस्कार सम्बन्धित है उस ही भाग से मन का संयोग होने पर स्मृतियां होती हैं, नहीं तो नहीं, और यह ही कारण है कि सब स्मृतियां एक काल में नहीं होतीं। आपने इस एकदेशी का खण्डन करते हुए यह तो कहा कि मन शरीर के बाहर काम नहीं कर सकता परन्तु यह नहीं कहा कि आत्मा शरीर के बाहर नहीं है। फलतः आपने आत्मा को शरीर से बाहर भी मान लिया, और बाहर मान लेने का अर्थ हो जाता है व्यापक मान लेना। अब एक ओर तो आप आत्मा में गमनागमन क्रिया मानकर उसे अणु मानते हैं और दूसरी ओर उसे व्यापक भी स्वीकार करते हैं, यह कैसे? यह है मेरी उलझन।

अ० पा० म०—आपकी उलझन ठीक है। अब इस उलझन को सुलझाने के लिए मैं आपके सामने न्याय और वैशेषिक की एक और उलझन रखने लगा हूं।

आप यह जानते होंगे कि ये दोनों शास्त्र ज्ञान, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख आदि को आत्मा के गुण मानते हैं।

वि० बो०—जी हाँ।

अ० पा० म०—और आप यह भी जानते होंगे कि मुक्त होने पर आत्मा में इन सारे ही गुणों का अभाव मानते हैं।

वि० बो०—हां, यह भी जानता हूं।

अ० पा० म०—अब आप इन दोनों सिद्धान्तों के समन्वय की ओर ध्यान दें। आत्मा नित्य है और नित्य पदार्थ के गुण नित्य ही हुआ करते हैं, अतः ज्ञान, इच्छा आदि यदि आत्मा के गुण हैं तो उन्हें मुक्ति में भी नष्ट न होना चाहिये, जैसे कि घड़े के रहते हुए घड़े का रूप। और यदि ये इच्छा द्वेष आदि गुण मुक्ति में भी आत्मा में बने रहे तो वह उसकी मुक्ति कैसी? यह ही शंका संस्कारों और वासनाओं के सम्बन्ध में भी की जा सकती है। एक दूसरी उलझन है जिसका सुलझाना आवश्यक है और जिसके सुलझते ही आपकी वह पहली उलझन अपने आप सुलझ

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

जावेगी, मैं इसे सुलझाने का यत्न करता हूं। आप मेरे विचारों को ध्यान से सुनने का यत्न कीजिए।

महात्मन् ! आत्मा अणु ही है। उसे हम चेतन अर्थात् ज्ञानवान् मानते हैं। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश है उसी प्रकार ज्ञान भी आत्मा का प्रकाश है और जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश उसके बिम्ब से निकल कर चारों ओर एक निश्चित केन्द्र में फैला हुआ है उसी प्रकार आत्मा का प्रकाश भी उसके चारों ओर एक निश्चित केन्द्र में फैला रहता है। अपने शरीर से बाहर निकल कर चारों ओर फैलते हुए इस प्रकाश ने कितने क्षेत्र को घेरा है, इसके उत्तर में निवेदन है कि इस परिधि को निर्धारित नहीं किया जा सकता, परन्तु यह कहा जा सकता है कि यह प्रकाश सर्व-व्यापक नहीं हो सकता क्योंकि आत्मा अल्पज्ञ है। इसी प्रकाश के द्वारा विषयों के संसर्ग से और मन की सहायता से विषयों के ज्ञान और इच्छा, द्वेष आदि गुण इस प्रकार से ही प्रकट होते हैं और फिर विरोधी अवस्थाओं को पाकर नष्ट भी हो जाते हैं, परन्तु इनके उत्पन्न और नष्ट होते समय प्रकाश के आधार आत्मा में कोई विकार नहीं आता जसे कि सूर्य के प्रकाश में विकार आने पर भी सूर्य के बिम्ब पर उसका कोई प्रभाव नहीं। विभिन्न प्रकार के संसर्गों से इस पर कई प्रकार के संस्कारों का संचार होता रहता है और यह संचार प्रकाश में ही होता है बिम्ब में नहीं। जिन महात्माओं ने सत्संग तपश्चर्या, योग, समाधि आदि के प्रभाव से कुसंस्कारों को हटाकर इसे पवित्र संस्कारों से पूर्ण कर दिया है उनके समीप आनेवाले जिज्ञासु साधारण लोग भी उनके इस प्रकाश के ही प्रभाव से कुमार्ग को छोड़ कर सुमार्ग पर चल पड़ते हैं। इसी भाव को प्रकट करने के लिए महर्षि पतंजलि ने लिखा है—

'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः'

(अहिंसा की प्रतिष्ठा हो जाने पर उसके पास आते ही परस्परविरोधी लोगों के विरोध छूट जाते हैं) अहिंसक मनुष्य के पास पहुँचने मात्र से विरोध कैसे छूट जावेंगे ? इस प्रश्न का उत्तर ऊपर की पंक्तियों में ही दिया जा चुका है। तात्पर्य यह है कि जिस महात्मा के पास वे लोग आये हैं उनके ज्ञान का प्रकाश उसके चारों ओर फैला हुआ है और अब उसमें से हिंसा की भावनाओं को उनके स्थान पर करुणा और प्रेम की भावनाओं का संचार किया जा चुका है। आगन्तुक लोगों के संस्कार यद्यपि इन संस्कारों के विपरीत हैं परन्तु शासन पर लगाई हुई तलवार की भांति महात्मा के ज्ञान के संस्कार तीक्ष्ण तथा प्रभावशाली हैं, अतः उस प्रकाश के प्रभाव में आते ही इनके संस्कार दब जाते हैं और प्रेम भावनाओं को प्रकट होने का अवसर मिल जाता है। यह ज्ञान का प्रकाश और अन्तःकरण मिलेजुले होते हैं और इसके परिवर्तन के साथ-साथ उनमें भी परिवर्तन होता रहता है। आगन्तुक लोगों के ऊपर यह प्रभाव अस्थिर रूप से हुआ है और तब तक ही रहता है जब तक कि ये इनके प्रकाश में हैं। हां, यदि ये बहुत देर तक इनके पास आते रहें और स्वयं उस ओर चलने का अभ्यास करते रहें तो यह प्रभाव स्थिर हो सकता है।

यह प्रकाश सदा आत्मा के साथ रहने वाला है, इसलिये यह ही आत्मा का स्वाभाविक गुण चैतन्य है। विषयों के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाले ज्ञान, इच्छा आदि नैमित्तिक गुण हैं। यह ही कारण है कि मुक्ति के समय आत्मा का यह स्वाभाविक गुण जो चैतन्य है इसके साथ रह जाता है और विषयों के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाले

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

ज्ञान, इच्छा, द्वेष आदि सब नैमित्तिक गुण समाप्त हो जाते हैं। परन्तु हमारे पूर्व कथन के अनुसार चैतन्य के आधार आत्मा पर इनके विनाश का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। सम्भव है अब आप समझ गये होंगे कि आत्मा का परिमाण अणु है, उसका स्वाभाविक ज्ञान रूपी प्रकाश उसके शरीर में से होता हुआ बाहर तक फैला हुआ है और यह प्रकाश मुक्ति के समय भी इसके साथ रहता है।

एकदेशी के इस कथन का कि (स्मृति के समय मन का संयोग आत्मा के बाहर के प्रदेश से भी होता है [क्योंकि स्मृतियों के लिए संस्कार जहाँ भी हो उसके साथ संयोग का होना आवश्यक है) हमने इस अंश में तो खण्डन किया है कि मन बाहर जाकर आत्मा के बाहर वाले संस्कृत प्रदेश से सम्बन्ध करे, परन्तु आत्मा के बाहर के प्रदेश की सत्ता का हमने निषेध नहीं किया, कारण यह ही था कि हम आत्मा के ज्ञान का प्रकाश शरीर से बाहर भी मानते हैं। आशा है अब आपकी उलझन का समाधान हो गया होगा।

वि. बो. – भगवन् यह तो समाधान हो गया परन्तु आपके इस समाधान से एक और शंका उठ खड़ी हुई।

अ. पा. म.—वह क्या ?

वि. बो. – वह यह कि आपने आत्मा के गुण ज्ञान को आत्मा से बाहर भी शरीर में तथा शरीर से बाहर भी बाहर तक फैला हुआ कह दिया है और गुण की सत्ता गुणी से बाहर होती नहीं। जैसे कि फूल का रूप फूल से बाहर नहीं रह सकता।

अ. पा. म.—यह ठीक है कि बहुत से गुण गुणी से बाहर नहीं रह सकते। परन्तु प्रकाश गुण का ऐसा स्वभाव है कि वह गुणी से बाहर रह सकता है। जैसे कि सूर्य का प्रकाश और हीरे का प्रकाश अपने गुणी से बाहर रहते हैं। और इस विषय पर महर्षि व्यास देव जी पर्याप्त प्रकाश डाल चुके हैं। उनका प्रवचन मैंने और आपने सुना ही है अतः फिर उसी के दुहराने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। अतः हम अपने इस प्रवचन को यहीं समाप्त कर अपना आसन ग्रहण करते हैं।

आ. बो.—भगवन् ! इस विषय पर आपके भाषण से पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। बहुत से लोगों के भ्रम दूर हो गये हैं। हम सब आपके कृतज्ञ हैं कि आपने अपने शास्त्र का सार बतला कर हमें अनुगृहीत किया है। सभ्यवृन्द ! विस्तार से पदार्थ गणना का जिन्हें श्रेय प्राप्त है और जिनके युक्तिसंगत पदार्थ विभाग का धर्म शास्त्रों तथा प्राचीन ग्रंथों ने आश्रय लिया है, वे हम सबके पूज्य महर्षि कपिलदेव भी आज हमारे मध्य वर्तमान हैं, अब आप उनके वचनामृत का पान कीजिये। मैं महर्षि जी से प्रार्थना करूँगा कि वे अपना भाषण आरम्भ कर अनुगृहीत करें।

म. क. दे.—उपस्थित सभ्यगण ! आपने महर्षियों तथा महापुरुषों के प्रवचन सुने हैं। मन्त्री जी की प्रेरणा के अनुसार हम भी अपने विचार प्रकट करने से पहिले प्रस्तुत विषय में अपनी सम्मति प्रकट कर देना उचित समझते हैं।

और वह यह है कि अन्य ऋषियों की भाँति हम भी जीव का परिमाण अणु ही मानते हैं।

वि. बो.—भगवन् ! आपके शास्त्र में तो आत्मा को विभु माना गया है,

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

आप उसे अणु कसे कह रहे हैं। देखिये, आपने पहिले ही अध्याय में लिखा है 'निष्क्रियस्य तदसम्भवात्' अर्थात् व्यापक होने से आत्मा में क्रिया नहीं है, अतः उसकी विशेष गति नहीं हो सकती।

म० क० दे०—महात्मन् ! ऐसी बात नहीं। यह सूत्र जिस प्रकरण का है उसमें और ही विषय हैं। हम वह सारा ही प्रकरण आपके परिचय के लिए उद्धृत किये देते हैं—

ऊपर से शून्यवादी के मत पर विचार चला आ रहा है। हमने उसके मत पर दो आक्षेप किए थे। एक यह कि आपकी शून्यता पुरुषार्थ नहीं हो सकती, क्योंकि प्रत्येक पुरुष सुखादि को आत्मनिष्ठ समझकर ही पुरुषार्थ मानता है, और सब शून्य होने से न आपके मत में कोई आत्मा है और न सुख। और दूसरा यह कि सांवृतिक (व्यवहार) दशा में भी आपके मत में सब ही विज्ञान क्षणिक हैं स्थिर आत्मा कोई है नहीं, तो पुरुषार्थ प्राप्ति की अभिलाषा कौन किसके लिए करेगा ? और किसी एक ने अभिलाषा की भी तो क्षणिक होने के कारण दूसरे क्षण में उसके समाप्त होते ही यह अभिलाषा भी समाप्त हो जावेगी।

इसके उत्तर में क्षणिकवादी की ओर से हमने यह प्रश्न उठाया कि—यद्यपि हम व्यवहार दशा में विज्ञान को क्षणिक मानते हैं—परन्तु वह विज्ञान धारा एक स्थिर आत्मा का ही रूप धारण कर लेती है। क्योंकि पूर्व विज्ञान की सबही वासनाएं उत्तर विज्ञान में संक्रान्त हो जाती हैं। और इसीलिए उसकी पुरुषार्थ प्राप्ति की अभिलाषा भी उसके साथ ही समाप्त नहीं हो जाती, वह भी उत्तर विज्ञान में संक्रान्त हो जाती है। इस प्रकार जब तक मोक्षलाभ होगा तब तक यह अभिलाषा उत्तरोत्तर विज्ञान में संक्रान्त होती ही चली जावेगी। "शून्य में पर्यवसान पुरुषार्थ नहीं कहा जा सकता", यह बात भी ठीक नहीं। विज्ञान के शून्य रूप में लीन हो जाने पर सब दुःखों का अभाव हो जावेगा, और सर्व दुःखाभाव से बढ़कर और क्या पुरुषार्थ हो सकता है। इसके उत्तर में लिखा है—

न गतिविशेषात् । सां० १।४८

आप पूर्व विज्ञान-वासना की उत्तर विज्ञान में संक्रान्ति कह रहे हैं। परन्तु वह हो नहीं सकती, क्योंकि वासना में एक विज्ञान से दूसरे विज्ञान में जाने के लिए विशेष गति चाहिए और—

निष्क्रियस्य तदसम्भवात् । ४९।

निष्क्रिय वासना में गति असम्भव है, क्योंकि आपके मतानुसार उसका विज्ञान से अभेद है। और विज्ञान वहां ही समाप्त हो जाता है।

और यदि उसका विज्ञान के साथ अभेद न मानकर उसे विज्ञान से भिन्न तथा गतिमान् मानो तो—

मूर्तत्वाद्घटादिवत् समानधर्मापत्तावपसिद्धान्तः । ५० ।

उसे क्रियावान्, घट आदि वस्तुओं की तरह मूर्त द्रव्य मानना पड़ जावेगा। और आप विज्ञान से भिन्न और कोई वस्तु मानते नहीं अतः आपके सिद्धान्त की हानि होगी।

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

क्या आप यह कहना चाहते हैं कि अमूर्त में क्रिया नहीं हो सकती है? हम कहेंगे कि यह बात ठीक नही। क्योंकि आप भी तो अपने अमूर्त ईश्वर में क्रिया मानते हैं—देखिए आपके वेदों में ही इसे स्वीकार किया है—"तद्धावतोऽन्यानत्येति" (वह दौड़ते हुए औरों से आगे निकल जाता है)—पूर्व पक्षी के इस आक्षेप का उत्तर देते हुए हमने लिखा है—

गतिश्रुतिरप्युपाधियोगादाकाशवत्। ५१।

ईश्वर में भी गति का श्रवण वास्तविक नहीं, उपाधि की गति के कारण है, जैसे कि आकाश में। चलता घट है परन्तु घटाकाश भी चलता प्रतीत होता है। इसी प्रकार दौड़ता मनुष्य है और उसके अन्दर प्रविष्ट ईश्वर दौड़ता प्रतीत होता हैं। अत: ईश्वर में गति नहीं।

वि० बो०—भगवन्, आप तो ईश्वर को मानते नहीं, फिर आपने ईश्वर को मानकर माध्यमिक का यह समाधान कैसे किया? आप सीधे कह सकते थे कि ईश्वर है नहीं।

म० क० दे०—महात्मन्, कोई भी वेदानुयायी अथवा तार्किक ईश्वर की सत्ता का निषेध कैसे कर सकता है? सारे वेद ही ईश्वर के गुणगान से भरे हुए हैं। किसी ने सारे शास्त्र के भाव को न समझकर ऐसा कह दिया होगा।

वि० बो०—भगवन्! आपने स्पष्ट लिखा है—

ईश्वरासिद्धे:। सां० १।९२।

(ईश्वर की सिद्धि नहीं होती।)

म० क० दे०—महात्मन्! यह भी आप प्रकरण की संगति को न देखकर समझ रहे हैं। इस सूत्र के व्याख्यान के लिए हम वह प्रकरण भी उद्धृत किये देते हैं—

प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण का प्रकरण चला हुआ है। लक्षण में दिये गए अव्याप्ति अतिव्याप्ति आदि दोषों का उद्धार किया जा रहा है। एक दोष यह भी दिया गया है कि यह लक्षण ईश्वरविषयक प्रत्यक्ष में अव्याप्त है क्योंकि उसके साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध सम्भव नहीं। इसके उत्तर में लिखा है—

ईश्वरासिद्धे:। सा० १—९२

ईश्वर की प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्धि नहीं होती। अत: वह प्रत्यक्ष के लक्षण का लक्ष्य ही नहीं है, फिर अव्याप्ति कैसी।

जिसका विवेकसाक्षात्कार से प्रत्यक्ष होता है वह चेतन शक्ति दो प्रकार की है, मुक्त और बद्ध, और—

मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्न तत्सिद्धि:। ९३।

ईश्वर मुक्त और बद्ध इन दोनों चेतनों में से एक भी नहीं वह स्वतन्त्र ही पृथक् आत्मा है, अत: उसकी प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्धि नहीं होती।

यदि ऐसा माना जावे कि ईश्वर बद्ध और मुक्त आत्मा में से कोई एक होगा तो—

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

"उभययाप्यसत्करत्वम्" ९४।

ये दोनों ही चेतन अल्पज्ञ हैं इनमें से किसी का भी रूप उसे मान लिया गया तो वह भी अल्पज्ञ मानना पड़ेगा और ऐसी अवस्था में उसमें "असत्करत्व" दोष आ जावेगा अर्थात् वह इस सत् रूप जगत् का कर्ता न हो सकेगा।

जीव-चैतन्य को भी तो उपनिषदों मे कई स्थानों में विशाल ज्ञान का धनी कहा गया है इसके उत्तर में कहते हैं—

"मुक्तात्मनः प्रशंसा उपासा सिद्धस्य वा" ९५

उपनिषदों में विशाल ज्ञान के धनी कहकर उन्हीं जीवों की प्रशंसा की गई है जो भगवान् के ज्ञान की सहायता से मुक्त हो गए हैं, अथवा ज्ञान के भण्डार भगवान् की उपासना से उसके समीप पहुँच कर उसके ज्ञान से मालामाल हो सिद्ध हो गए हैं।

तात्पर्य स्पष्ट है कि जिसकी कृपा से इन्हें ज्ञान मिला है इस सत्' संसार का रचयिता वह ही हो सकता है, इनमें वह शक्ति नहीं।

यदि ईश्वर जगत् का कर्ता है तो वह भी जगत् की रचना के लिये संकल्प आदि करेगा और ऐसी अवस्था में उसमें भी संकल्प आदि रूप परिणाम मानने पड़ जावेंगे। इसके उत्तर में लिखते हैं—

"तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्" ९६।

ईश्वर में संकल्पादि रूप परिणाम नहीं होते, उसकी सन्निधि मात्र से ही प्रकृति में परिवर्तन हो जाते हैं जैसे कि चुम्बक की सन्निधि से लोहे में क्रिया आरम्भ हो जाती है। और इसी प्रकार—

"विशेषकार्येष्वपि जीवानाम्" ९७।

जिस प्रकार समष्टि जगत् की रचना के लिए ईश्वर में किसी परिणाम की आवश्यकता नहीं, संसार के छोटे मोटे कार्य करने के समय जीव मे भी किसी परिणाम की आवश्यकता नहीं। वह भी बुद्धि की पीठ के पीछे बैठा सन्निधि मात्र से ही सब कुछ करता रहता है।

वि० बो०—भगवन्! आपने एक जगह तो जीव को ही सृष्टि का कर्ता मान लिया है जैसे कि—

"स हि सर्ववित् सर्वकर्ता" अ० ३-५६

(वह सब कुछ जानने वाला और सब कुछ करने वाला है) और अब ईश्वर को जगत् का कर्ता बतला रहे हैं यह कैसी बात है?

म० क० दे०—महात्मन्! आपके ये विचार भी प्रकरण को न देखने के कारण बने हैं। इस सूत्र के प्रकरण का भाव सुनिए—

प्रकृतिलीन पुरुष का उसके पुण्य कर्म समाप्त हो जाने पर जब प्रकृति से उत्थान होगा उसके उत्थान के लिये भी जगन्नियता के यत्न की आवश्यकता है अथवा उपासना से सिद्ध अतएव विज्ञानवान् होने से वह स्वयं ही अपना उत्थान करेगा? इसके उत्तर में कहते हैं—

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

"स हि सर्ववित् सर्वकर्ता" अ० ३—५६

(अब तो वह अपने भूत भविष्यत् के विषय में सब कुछ जानता है। और उसके अधिकार में जो कुछ है वह सब कुछ कर सकता है। अतः उसके उत्थान के लिए ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं।

यदि वह अपने आप में स्वतन्त्र और सर्वज्ञ है, तो एक प्रकार का ईश्वर ही हो गया, और प्रत्यक्ष प्रमाण से ईश्वर की सिद्धि का आप निषेध कर आए हैं तो इस ईश्वर ने अपने सारे कार्यकलाप का तथा अपने स्वरूप का प्रत्यक्ष कैसे किया ? इसके उत्तर में लिखते हैं—

"ईदृगीश्वर सिद्धिः सिद्धा" अ० ३—५७

इस प्रकार के ईश्वर की प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्धि सिद्ध है। तात्पर्य यह है कि परम पुरुष ईश्वर का प्रत्यक्ष जीव अपने साधनों से नहीं कर सकता परन्तु विज्ञान सम्पन्न होने पर आत्मा तथा अपने भविष्य का प्रत्यक्ष वह कर सकता है, इस प्रकृतिलय को ही पहिले उपासासिद्ध कह आये हैं।

वि० बो०—भगवन् ! आपने एक स्थान पर कर्मफल का प्रदाता कर्म को ही कहा है। परन्तु ईश्वर को मानने वाले कर्मफल का प्रदाता ईश्वर को मानते हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि आप ईश्वर को नहीं मानते।

म० क० दे०—महात्मन् ! आपको यह प्रश्न भी प्रकरण पर ध्यान न देने से करना पड़ा है। प्रकरण पर ध्यान देते तो आपको वहाँ से ही उत्तर मिल जाता। इसे समझने के लिए भी उस प्रकरण का उल्लेख किये देते हैं।

ग्रन्थ के आरम्भ में ईश्वरस्तुतिरूप मंगल क्यों किया जाता है ? इस प्रश्न के उत्तरमें लिखा गया है।

मङ्गलाचरणं शिष्टाचारात्फलदर्शनात् श्रुतितश्चेति। सां०५—१

ईश्वर की स्तुति करना शिष्टाचार से सिद्ध है, फल प्राप्त होता है और श्रुति भी इसका अनुमोदन करती है। आपने ईश्वरस्तुतिरूप मंगल से फल की प्राप्ति कही है। परन्तु यह तो ठीक नहीं। क्योंकि—

नेश्वराधिष्ठिते फलनिष्पत्तिः कर्मणा तत्सिद्धेः ॥२॥

यह ही वह सूत्र है जिसके आधार पर आपने प्रश्न किया है कि—"आप कर्म को ही फलदाता मानते हैं, ईश्वर को नहीं, अतः ईश्वर को नहीं मानते" आपके इस प्रश्न का समाधान प्रकरण के अनुसार इस सूत्र का अर्थ सुन कर ही हो जावेगा। अर्थ यह है कि—ईश्वर को अपना अधिष्ठाता अर्थात् स्वामी मान लेने मात्र से फल न मिलेगा। फल तो उसकी प्रेरणानुसार कर्म करने से मिलेगा।

फल यदि अपने कर्म के अनुसार ही मिलेगा तो ईश्वर से हमें तो कुछ लाभ न हुआ, तब क्या ईश्वर को उसके किसी उपकार के लिए अधिष्ठाता मानना पड़ता हैं, जैसे कि कई राजा अपने स्वार्थ के लिए लोगों पर अधिकार कर लेते हैं। इसके उत्तर में लिखा है—

स्वोपकारादधिष्ठानं लोकवत् ॥३॥

हम ईश्वर को अधिष्ठाता उसके किसी उपकार के लिए नहीं, अपने ही उप-

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

कार के लिये मानते हैं। जैसे कि लोक में कर्मपरायण लोग अपने भले के लिए बड़ों को अपना नेता मान लिया करते हैं। उनके गुणों का अनुशीलन कर हम उनसे अलभ्य लाभ उठाया करते हैं।

यदि ईश्वर अपने लाभ के लिए हमारा अधिष्ठाता बनता तो वह—

लौकिकेश्वरवदितरथा ॥४॥

फिर तो संसारी ईश्वर की तरह ही स्वार्थी होता।

पारिभाषिको वा ॥५॥

अथवा वह नाम मात्र का ईश्वर रह जाता। क्योंकि—

न रागादृते तत्सिद्धिः प्रतिनियतकारणत्वात् ॥६॥

अपने उपकार के लिए राग का होना आवश्यक है, क्योंकि राग उपकारसिद्धि का नियत कारण है। और यदि ईश्वर में भी राग है तो।

तद्योगेऽपि न नित्यमुक्तः ॥७॥

और यदि ईश्वर में भी राग का योग है तो इस हेतु से भी वह नित्यमुक्त अर्थात् ईश्वर सिद्ध नहीं होता। अर्थात् स्वार्थ और राग दोनों ही ईश्वरत्व के विरोधी गुण हैं।

यद्यपि आपकी शंका का समाधान तो इन पंक्तियों से ही भली-भाँति हो गया होगा। परन्तु आपके इस भ्रम को दूर करने के लिए कि 'हम ईश्वर को नहीं मानते" ईश्वरसिद्धि के और भी सूत्र उद्‌धृत किये देते हैं। इसी प्रसंग में आगे चलकर शंका उठाई गई है कि ईश्वर प्रकृति के संग से संसार को उत्पन्न करता है या सन्निधि मात्र से? इसके उत्तर में लिखा है—

प्रधानशक्तियोगाच्चेत्सङ्गापत्तिः ॥८॥

यदि वह प्रधान शक्ति के योग से संसार को उत्पन्न करता है तो ससंग हो गया, असंग न रहा।

सत्तामात्राच्चेत्सर्वैश्वर्यम् ॥९॥

और यदि सत्ता मात्र से अर्थात् सन्निधि मात्र से संसार को उत्पन्न करता है तो सारे ही आत्मा ईश्वर हो जावेंगे, क्योंकि प्रकृति के पास सन्निधि तो सबकी ही समान है।

प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः ॥१०॥

सब जीवों के ईश्वर सिद्ध होने में कोई प्रमाण नहीं। तात्पर्य है कि प्रकृति के समीप होने से ही कोई ईश्वर अथवा जगत् का कर्ता नहीं हो जाता। जगत् का कर्ता बनने के लिये उसमें सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत्ता आदि और भी धर्म होने चाहियें और ये धर्म जीव में हैं नहीं, अतः ईश्वर ही जगत् का कर्ता है जीव नहीं। जैसे कि लोहे के पास यद्यपि और भी बहुत लोहे रक्खे हुए हैं, परन्तु चुम्बक ही उसे अपनी ओर खींचता है और नहीं।

सम्बन्धाभावान्नानुमानम् ॥११॥

जीव में ईश्वरत्व की सिद्धि अनुमान से भी नहीं होती। क्योंकि अनुमान के लिए व्याप्ति नामक सम्बन्ध चाहिए और इस सम्बन्ध का ग्रहण होता है प्रत्यक्ष अथवा

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

शब्द से। प्रत्यक्ष से तो जीव में सर्वज्ञत्व एवं ईश्वरत्व के विपरीत अल्पज्ञत्व सिद्ध है और शब्द प्रमाण कोई जीव को ईश्वर कहने वाला है नहीं। अतः प्रधान के कार्यों की रचना करने वाला ईश्वर ही है जीव नहीं, इस विषय को श्रुति भी प्रमाणित करती है इसके लिए लिखते हैं—

श्रुतिरपि प्रधानकार्यत्वस्य ॥१२॥

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते,
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति'।

(एक) प्रकृति नामक वृक्ष के साथ, ज्ञान और कर्म की उड़ान लेने वाली दो शक्तियों का सम्बन्ध है। उनमें से एक तो अपनी कर्म उड़ान के अनुसार कर्मफल का भोग करती है और दूसरी ज्ञान की उड़ान के अनुसार प्रकाशित होती हुई प्रकृति में से उन कर्मफल भोग के पदार्थों को प्रकाशित करती है—प्रकट करती है। यह श्रुति भी प्रधान के कार्यों की ईश्वर से रचना सिद्ध कर रही है।

मैं समझता हूं अब आप को निश्चय हो गया होगा कि हम अनीश्वरवादी नहीं हैं।

वि० बोध—भगवन्! आपने वेद के नित्यत्व को सिद्ध करते हुए लिखा है।

न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात्। सां. ५।४६

वेद पौरुषेय नहीं हैं, क्योंकि उसका कर्ता पुरुष है ही नहीं। इस प्रकार इस सूत्र में आपने वेद के कर्ता भगवान् का निषेध किया है।

म० क० दे०—महात्मन्! यह प्रतीति भी आपको प्रकरण के भली-भांति स्वाध्याय न करने से ही हुई है। हम यह भी सारा ही प्रकरण आप के ज्ञान के लिये उद्धृत किये देते हैं। यह प्रकरण निम्न सूत्र से आरम्भ होता है—

'न नित्यत्वं वेदानां कार्यत्वश्रुते.' सां ५।४५।

श्रुति में वेदों को कार्य कहा गया है इसलिये वे नित्य नहीं हो सकते। श्रुति इस प्रकार है—

'तस्मात् तपस्तेपानात् त्रयो वेदा अजायन्त'।

इस ज्ञान रूपी तप को तपने वाले भगवान् से तीन प्रकार की विशेषताओं से सम्पन्न वेद उत्पन्न हुए।

तब क्या वेद पुरुष के बनाए हुए हैं?

'न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात्'।

वेद पौरुषेय नहीं हैं क्योंकि उनका कर्ता कोई पुरुष नहीं है। परम ईश्वर भी नित्य होने के कारण उन्हें उत्पन्न नहीं करता, प्रकट करता है। जो श्रुति ऊपर दिखलाई गई उसमें भी 'अजायन्त' पद का अर्थ उत्पन्न होना नहीं, प्रादुर्भाव होना ही है, क्योंकि 'जनी' धातु का अर्थ प्रादुर्भाव ही है, उसी से यह शब्द बना है।

'न मुक्तामुक्तयोरयोग्यत्वात्' सां० ५।४७

वेद मुक्त अथवा अमुक्त पुरुष अर्थात् जीव के कहे हुए नहीं हो सकते क्योंकि

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

वे अल्पज्ञ होने से अयोग्य हैं अतः उनका वक्ता परम पुरुष ईश्वर ही है।

'नापौरुषेयत्वान्नित्यत्वमंकुरादिवत्' सां० ५।४८

क्योंकि परम पुरुष रचित होने से अंकुरादि अनित्य हैं अतः वेद भी यदि उससे निर्मित हुए तो वे भी अनित्य ही होंगे, अतः वेद अपौरुषेय हैं और इसी लिए नित्य हैं। इसके उत्तर में कहते हैं 'न', ईश्वर से रचित होने से भी वेद अनित्य नहीं हो सकते, क्योंकि वह ज्ञान परमपुरुष भगवान् की स्वभाव शक्ति होने से अनादि काल से उसके साथ है और अनन्त काल तक रहेगा। केवल सृष्टि के आरम्भ में भगवान् अपनी उस वर्तमान शक्ति को ही संसार के प्राणियों के कल्याण के लिए प्रकट किया करते हैं। अतः वेद ईश्वरोक्त भी हैं तथा नित्य भी।

अंकुरादि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रश्न करते हैं—

'तेषामपि तद्योगे दृष्टबाधादिप्रसक्तिः' सां० ५।४६

यदि अंकुरादि का भी कर्तृत्व के साथ योग मानते हो तो प्रत्यक्षबाध होगा, क्योंकि अंकुर की रचना करने वाला कोई पुरुष अंकुर के पास दिखाई नहीं देता।

'यस्मिन्नदृष्टेऽपि कृतबुद्धिरुपजायते तत्पौरुषेयम्' सां० ५।५०

कर्ता के दिखाई न देते हुए भी जो बुद्धि के द्वारा रचित सिद्ध हो जावे वह पौरुषेय ही होगा। यह नियमपूर्वक उत्पन्न, पालित और नष्ट होने वाली अंकुरादि सब सृष्टि बुद्धिपूर्वक ही माननी पड़ेगी, क्योंकि जड़-शक्ति की स्वतः रचना इस प्रकार नियमपूर्वक नहीं हो सकती, अतः बुद्धिपूर्वक कार्य करने वाला परम पुरुष भगवान् ही अंकुरादि सृष्टि का कर्ता है।

क्योंकि भगवान् की अपनी शक्ति ही वेद हैं अतः उनका प्रामाण्य सिद्ध करने के लिये उनके रचयिता किसी प्रामाणिक पुरुष के खोजने की आवश्यकता नहीं, इसी भाव का प्रकाश करने के लिये लिखते हैं :—

निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम् सां० ५।५१

भगवान् की अपनी शक्ति का प्रकाश ही वेद है अतः वे नित्य हैं और नित्य होने से स्वतः प्रमाण हैं।

वि० बो०—भगवन ! यह तो मुझे निश्चय हो गया कि आप अनीश्वरवादी नहीं हैं और आपने शून्यवादी को जो उत्तर दिया, ठीक ही दिया। परन्तु आपके "न विशेषगतिर्निष्क्रियस्य" (आत्मा की विशेष लोकादिक में गति भी मोक्ष नहीं कही जा सकती क्योंकि वह व्यापक होने से निष्क्रिय है) इस सूत्र में आत्मा को निष्क्रिय कहा गया है और क्रियारहित व्यापक ही होता है अतः आपका अणुवाद कैसे सिद्ध हुआ।

म० क० दे०—महात्मन् ! सूत्र का यह भाव नहीं जो कि आपने प्रकट किया है। आत्मा में लोकलोकान्तर अर्थात् निकृष्ट योनियों में जाने के लिए क्रिया तभी तक होती रहती है जब तक कि विवेकसाक्षात्कार से अन्तःकरण की भूमि को कर्म-बीज के उगने के लिए ऊसर नहीं बना दिया जाता, कर्मबीज ही भोग के लिए अंकुरित होकर जीवात्मा को भोग के साधन सञ्चित करने के लिए विभिन्न योनियों में ले जाने का साधन बनता है, और जब वह अत्यन्त उत्कृष्ट कर्मफल भोग के लिए किसी अत्यन्त उत्कृष्ट योनि में जाता है यह ही उसकी विशेष गति कहलाती है, और इसी

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

विशेष गति को ही मोक्ष नाम देने का सूत्र में "न विशषगतिः" शब्द से निषेध किया गया है। और वह इसलिए कि जीव मोक्ष की अवस्था में पहुँचकर इस विशेष गति के योग्य ही नहीं रहता, क्योंकि विवेक साक्षात्कार हो जाने से उसके अन्तःकरण की भूमि में कर्मबीज भोग रूपी अंकुर उत्पन्न ही नहीं कर सकता, अतः उसे उसके भोगने के लिए विशिष्ट योनि में जाने की आवश्यकता ही क्या रह जावेगी, और उसके लिए उसमें क्रिया होगी भी तो किस लिए ? फलतः वह विशिष्ट योनि में जाने की दृष्टि से अब निष्क्रिय हो गया है अतः सूत्र में उसे जाने की आवश्यकता न होने से निष्क्रिय कहा गया है विभु होने से नहीं। यह कहने से हमारे अणुवाद पर कोई आपत्ति नहीं आती।

वि० बो०—भगवन् ! यह तो मैंने मान लिया कि आप आत्मा को विभु नहीं मानते परन्तु उसे आप अणु मानते हैं यह कैसे माना जाय क्योंकि अणुत्व का साधक आपके शास्त्र में कोई प्रमाण नहीं है।

म० क० दे०—महात्मन् ! साधक प्रमाण भी सुनिये—

'न कालयोगतो व्यापिनो नित्यस्य सर्वसम्बन्धात्' सां० १-१२

काल योग से भी बन्ध नहीं माना जा सकता क्योंकि काल व्यापक और नित्य है और इसीलिये मुक्त तथा अमुक्त सब आत्माओं से उसका सम्बन्ध है, यदि कालयोग से बन्ध माना गया तो मुक्त आत्मा भी बँध जावेंगे।

यहाँ सूत्रकार ने आत्माओं का व्यापक न होना स्पष्ट ध्वनित किया है। क्योंकि आत्मा व्यापक हो तो काल के साथ व्यापक विशेषण लगाने की आवश्यकता न थी "कालस्य सर्वसम्बन्धात्" (काल का सब आत्माओं के साथ सम्बन्ध है) इतना कहने से काम चल सकता था क्योंकि सब आत्मा व्यापक थे ही, काल के देश में होने पर भी उनका सबके साथ सम्बन्ध हो सकता था, यह विशेषण देने की तब ही आवश्यकता पड़ी जब यह मान लिया गया कि आत्मा अणु है, ऐसी अवस्था में कोई मुक्त आत्मा कहीं होगा, कोई कहीं, और अमुक्त आत्मा भी विभिन्न स्थानों में कर्म फल भोग रहे होंगे, उन सबके साथ ही काल का सम्बन्ध कराने के लिये उसमें "व्यापिनः" विशेषण देने की आवश्यकता पड़ी। निष्प्रयोजन विशेषण देकर सूत्रकार कभी भी ग्रन्थ का कलेवर नहीं बढ़ाया करते, विशेषण वहां ही दिया जाता है जहाँ उसका कोई विशेष प्रयोजन हो। यहाँ मुक्त अमुक्त सब आत्माओं के साथ काल का सम्बन्ध कराना "व्यापिनः" पद का प्रयोजन है, अतः काल व्यापक और आत्मा अणु है। महात्मन् ! अब आप समझ गये होंगे कि सांख्य शास्त्र में आत्मा को विभु नहीं, अणु माना गया है। अब विषय सर्वथा स्पष्ट हो गया है अतः हम अपने भाषण को यहीं समाप्त करते हैं।

आ० बो०—पूज्यपाद महर्षिवर्य ! आपके सारगर्भित प्रवचन का जनता के हृदयों पर गम्भीर प्रभाव पड़ा है, आपकी इस कृपा के लिए हम कृतज्ञ हैं। अब में जनता को यह शुभ सन्देश सुना देना चाहता हूं कि सिद्धान्त और आचरण दोनों ही दृष्टियों से भगवत् प्राप्ति के परम साधन योग के महाविद्वान्, पूज्यपाद महर्षि पतञ्जलि अपनी अमृत वर्षा से आपको कृतकृत्य करने के लिये पधार रहे हैं।

म० प०—महात्मन् ! हमारे शास्त्र का सब विषय व्यवहार से सम्बन्ध रखता

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

है उसका एक एक अक्षर अन्तःकरण के पटल पर लिखा जाकर जब तक आचार में परिणत नहीं होता तब तक उसके बोलने और सुनने का कोई लाभ नहीं। इतना मात्र लाभ हो सकता है कि कदाचित् सुनते-सुनते उसके आचार में भी लाने का अवसर आ जावे। और सिद्धान्त की दृष्टि से जो कुछ कहा जा सकता है वह सब भ्राता कपिलदेव जी ने कह ही दिया है। पदार्थों की गणना करना तथा उनके गुण कर्म स्वभाव का निरूपण करना काम भी उनके शास्त्र का ही है। हमारा काम केवल योग की प्रक्रिया बतलाना है। पदार्थों की संख्या तथा उनके गुण-कर्म स्वभाव आदि के मन्तव्य की दृष्टि से हम और वे एकमत हैं, इसीलिये हमारा तन्त्र समान है। अतः उसी विषय का फिर से पिष्टपेषण न करते हुए हम उनके प्रतिपादित किये हुए जीवाणुवाद का समर्थन कर अपने वक्तव्य को समाप्त करते हैं।

आ० बो०—पूज्यपाद महर्षिवर्य ! इसमें कोई सन्देह नहीं कि आपका शास्त्र मूक भाषा में ही सुनने और सुनाने योग्य है। इसके सिद्धान्त वक्तव्य की नहीं, कर्तव्य की चीज हैं। आपके इस पवित्र विचार ने जनता को आचार के क्षेत्र की ओर जाने का संदेश दिया। हम आपके कृतज्ञ हैं। सभासद्गण आप लोग जगत्प्रसिद्ध महर्षि दयानन्द को भली-भाँति जानते हैं। आपने देश-सुधार की प्रत्येक समस्या का सुझाव देते हुए जाति पर महान् उपकार किया है। इस प्रकृतिवाद की भयंकर आंधी के समय पाश्चात्य विज्ञान की एवं भोगवाद की चकाचौंध में ग्रस्त होते हुए संसार के बीच में खड़े होकर, लुप्त होते हुए वेद के पवित्र ज्ञान का संदेश लोगों को सुना, भारत के ही नहीं, सारे संसार के उद्धार का बीज बोकर एक महान् उपकार के कार्य का उपक्रम किया है। और स्वयं अपना कोई दर्शन न लिख अन्य महर्षियों के ही दार्शनिक विचारों का अनुमोदन करते हुए दर्शनों के विभिन्न विषयों पर विशेष प्रकाश भी डाला है। लोगों के इस कथन का कि दार्शनिकों के मत परस्पर विरुद्ध हैं, अस्वीकार करते हुए इस विचार के विरोध में पहलेपहल आपने ही लेखनी उठाई है। आपने स्पष्ट कह दिया है कि ये सब एक ही लक्ष्य पर पहुंचाने के लिये महर्षियों के भिन्न-भिन्न मार्ग हैं। मार्गों के भिन्न-भिन्न होते हुए भी लक्ष्य का एक होना सर्वथा सम्भव है। और कई स्थानों पर तो भाष्यकारों ने ही सूत्रकारों के मत को अन्यथा प्रकट कर इस मार्ग के भेद को और भी अधिक बढ़ा ही नहीं दिया, वस्तु के स्वरूप को भी बिगाड़ दिया है। अतः अब मैं इस नवयुग के निर्माता पूज्य महर्षि जी से निवेदन करूँगा कि वे भी अपने विचारों से हम लोगों को अनुगृहीत कर कृतार्थ करें। मैं आशा करता हूँ कि आप सब इनके भाषण को ध्यान पूर्वक सुनेंगे।

म० द०—महात्मन् ! मैं आपका धन्यवाद करता हूँ कि आपने मेरे हार्दिक विचारों को जान मेरे विषय में कुछ शब्द कहे हैं। श्रीमान् जी ! मेरा अपना कोई मत नहीं, मैं उसी सिद्धान्त का मानने वाला हूँ, जिसका कि वेद ने प्रतिपादन किया है. और जिसे ब्रह्मा से लेकर जैमिनि पर्यन्त पूज्य महर्षि मानते चले आये हैं, अतः मेरे भाषण में उन्हीं के प्रकट किये हुए विचारों का अनुमोदन मात्र होगा। आज के प्रस्तुत विषय को मैंने सर्व साधारण के ज्ञान के लिए सत्यार्थ-प्रकाश में आर्य भाषा में ही स्पष्ट प्रकट कर दिया है। सब महर्षियों के प्रवचन हो चुके हैं और सब ही जीवात्मा के अणु परिमाण को एकमत होकर स्वीकार कर चुके हैं और उनके अनुसार ही मैंने भी सत्यार्थ प्रकाश में जीव परिमाण "परिच्छिन्न" ही लिखा है।

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

वि० बो०—भगवन् ! आपके इस परिच्छिन्न कथन से भ्रम हो सकता है क्योंकि परिच्छिन्न मध्यम परिमाण भी है और अणु भी।

म० द०—महात्मन् ! इस लेख में भ्रम की कोई सम्भावना नहीं क्योंकि अन्यत्र जैनमत विवेचन के प्रकरण में मध्यम परिमाण का प्रतिवाद किया गया है। भला जिसका प्रतिवाद किया हो वह ही मत ग्रन्थकार को कैसे स्वीकृत हो सकता है ? फलतः हमारा मत वह ही है जो कि अन्य महर्षियों का, अर्थात् अणु परिमाण। बस इस विषय पर और कुछ न कह कर अपने इस छोटे से कथन को हम यहां ही समाप्त करते हैं।

महर्षि दयानन्द का भाषण समाप्त ही हुआ था कि प्रधान द्वार की ओर से एक विशाल ज्योति के दर्शन हुए। महर्षि अभी वेदी पर ही बैठे हुए थे, उनका मुख प्रधान द्वार की ओर ही था, दृष्टिपात करते ही उन्होंने देखा कि उस प्रकाश के पुञ्ज में चार नवयुवक महर्षि आगे बढ़े चले आ रहे हैं, यह ज्योति उन्हीं के ब्रह्म-तेज की चमक थी। ऋषि दयानन्द के मुख से सहसा ही प्रसन्नता के साथ ये शब्द निकले—अहो भाग्य ! अहो भाग्य !! अहो भाग्य !!! सृष्टि के आरम्भ में भगवान् की कृपा के प्रथम पात्र, वेद-विज्ञान के आदि विद्वान् अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा पूज्य महर्षि !!!

यह सुनते ही भगवान् व्यासदेव जी का भी ध्यान उधर ही चला गया और उन्होंने हर्ष ध्वनि के साथ विजय घोष करते हुए इस कथन का अनुमोदन किया। सब लोग तत्काल ही खड़े हो गये। भगवान् व्यासदेव जी ने उनका अभिनन्दन करते हुए यथाविधि पाद्य, अर्घ्य आदि से सत्कार किया और उस सजी हुई वेदी पर ही उन्हें आसन दिया गया। आगन्तुक महर्षियों की आज्ञा पाकर सब लोग अपने अपने स्थान पर बैठ गये। महर्षि व्यासदेव ने महात्मा आत्मबोध की ओर देखा, और वे उनकी इस दृष्टि को आज्ञा समझ तत्काल ही खड़े हो गये।

आ० बो०—सम्मान के योग्य महर्षिगण ! तथा उपस्थित सभ्य पुरुषो ! हम लोगों के अहोभाग्य हैं कि वेद विज्ञान की पवित्र गंगा का आदि स्रोत जिन महापुरुषों से चलकर परम्परा से हम लोगों तक पहुँचा है, वे ही करुणाकर आज हम अकिञ्चनों की कुटियाओं को अलंकृत करने के लिए पधारे हैं। मैं आप सबके हृदयों का भाव समझ रहा हूँ, कि जिस विषय पर आप सब विचार कर रहे थे, और उस विचार धारा से आपने जो निर्णय किया है, उसकी आप साक्षात् वेद भगवान् के शब्दों से पुष्टि करने की अभिलाषा कर रहे हैं। भद्रपुरुषो ! महर्षियों के प्रसन्न मुखकमलों से मैं अनुभव कर रहा हूं कि वे आपकी इच्छा को पूर्ण करेंगे।

म० अग्नि—सभ्य पुरुषो ! महात्मा आत्मबोध ने जो आप सबकी कामना को एक प्रतिनिधि के अधिकार से प्रकट किया है, उसका हम स्वागत करते हैं, और आपके प्रस्तुत विषय पर अपने-अपने वेद की अनुमति प्रकाशित कर उसे प्रमाणित करना आरम्भ करते हैं। क्योंकि हमने जान लिया है कि आपने जीवात्मा का परिमाण अणु निर्णय किया है, और यह ही वेद का मत है। अधिक व्याख्यान न कर हम इस विषय से सम्बन्ध रखने वाले वेद-मन्त्र और उनका भाव ही सुनायेंगे।

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

"अवा मन्ये श्रत्ते अस्मा अधायि वृषा चोदव महते धनाय।
मा नो अकृते पुरुहूत योनाविन्द्र क्षुध्यद्भ्यो वय आसुतिं दाः"

ऋ० १।१।५।७

(ते-श्रत्) हे भगवन ! मेरे हृदय में आपके लिए श्रद्धा है (अधा मन्ये) मैं निश्चय मानता हूँ कि (पुरुहूत) हे बड़ों बड़ों से स्तुत (क्षुध्यद्भ्यः) कर्मफल भोग के भूखों को आप (वयः) आयु और (आसुतिम्) जन्म (दाः) देते हैं (अस्मा) मुझे (अकृते-योनौ) मेरे कर्म द्वारा तैयार न की हुई योनि में (मा-अधायि) स्थापित नहीं करोगे, अतः (वृषा) हे आनन्दवर्धक भगवन् ! (महते धनाय) महत्वपूर्ण अर्थात् आनन्द रूप धन के लिए (चोदस्व) ले चल। तात्पर्य यह है कि भगवन, मुझे मेरे कर्म द्वारा बनी हुई आनन्दप्राप्ति की साधन योनि में पहुँचा दो। इस मन्त्र में मृत्यु के समय इस शरीर से किसी दूसरे अज्ञात शरीर में जाते समय जीव ने भगवान् से प्रार्थना की है। व्यापक आत्मा का इस शरीर से निकलना, और दूसरे शरीर में जाना हो नहीं सकता और मध्यम परिमाण होता ही विनाशी है अतः इस वेद-मन्त्र में जीव का परिमाण अणु माना गया है।

'पूषा राजानमाघृणिरपगूढं गुहाहितम्। अविन्दत् चित्र
वर्हिषम्"। ऋक्० १।२३।१४

(आघृणिः) सब ओर से प्रकाशमय (पूषा) पालन करने वाला भगवान् (अपगूढ़म्) अपने आपको पाप से छिपाकर रखने वाले (गुहाहितम्) हृदयगुहा में स्थित (चित्र वर्हिषम्) विचित्र ज्ञान की ओर बढ़ने वाले (राजानम्) अपने अध्यात्मवर्ग पर शासन करने वाले आत्मा को (अविन्दत्) मिलता है। इस मन्त्र में आत्मा का निवास हृदय की गुहा में माना है और इस गुहा में व्यापक आत्मा समा नहीं सकता, अतः जीव का परिमाण अणु ही है।

हस्ते दधानो नृम्णा विश्वान्यमे देवान् गुहा निषीदन्
विदन्तीमत्र नरो धियंधा हृदा यत्तष्टान् मन्त्रान् अशंसन्"

(१।६७।२)

(विश्वानि) सम्पूर्ण (नृम्णा) मनुष्योपयोगी पदार्थ (हस्ते दधानः) अपने अपने अधिकार में लिए हुए (गुहा निषीदन्) हृदय की गुहा में निरन्तर रहता हुआ (देवान्-अमे-धात्) देवताओं को भय में रखता है (धियन्धाः) बुद्धि के धारण करने वाले (नरः) विज्ञानी लोग उसे (यत्र) यहाँ हृदय में ही यद्यपि वह बाहर अन्दर सब जगह है, परन्तु जब हृदय में बैठे हुए आत्मा के पास हृदय में भी है तो उसे बाहर खोजने की आवश्यकता क्या है? (विदन्ति) प्राप्त करते हैं। और फिर प्राप्त करने के बाद (ईम्) इसके लिए (हृदयष्ठान्) हृदय से निकले हुए (मन्त्रान्-अशंसन्) मन्त्रों से स्तुति करते हैं।

मन्त्रों से स्तुति तो पहले भी किया करते थे परन्तु प्रभु के प्राप्त कर लेने पर आज वे मन्त्र हृदय की गम्भीर तह से मस्ती में रंगे हुए निकल रहे हैं।

इस मन्त्र में प्रभु को प्राप्त कर लेने के समय भी जीव का स्थान हृदय ही कहा गया है, और हृदय में रहता हुआ अपने उपास्य देव प्रभु की स्तुति कर रहा है। यदि उपाधि से अवच्छिन्न होकर (वस्तुतः सर्वव्यापक होता हुआ) आत्मा

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

अणु और हृदय स्थित माना गया होता तो अब मुक्ति के समय उपाधि का भ्रम दूर हो अभेद हो जाने पर ब्रह्म से अभिन्न ही हो गया होता। फिर ऐसी अवस्था में उसका हृदय में रहना क्यों? और उपास्य तथा उपासक का भेद क्यों? इसलिए मुक्ति की अवस्था में भी जीव और ईश्वर भिन्न हैं, और जीव का परिमाण अणु है।

'अजो नक्षां दाधार पृथिवीं तस्तम्भ द्यां मन्त्रेभिः सत्यैः।
प्रिया पदानि पश्वो निपाहि विश्वायुरग्ने गुहा गुहं गाः॥ १।६७।३

(अजः) अजन्मा भगवान् (क्षां न) पृथिवी की तरह (पृथिवीम्) विस्तृत आकाश को (दाधार) धारण किए हुए हैं (सत्यैः) सत्यप्रधान (मन्त्रेभिः) मनन के आधार विश्वमानस की शक्तियों से (द्याम्) द्युलोक को (तस्तम्भ) संभाले हुए हैं (अग्ने) हे अग्रनेता भगवन्! (पश्वः) दर्शक जीवात्मा की (प्रिया पदानि) प्यारे स्थान (गुहा) हृदय गुहा की (गुहम्) गुहा अर्थात् अन्तर हृदय में पहुँचे हुए हो, अतः (विश्वायुः) सबके जीवन होते हुए इस जीव की भी (निपाहि) रक्षा करें।

इस मन्त्र में भगवान् को हृदय की गुहा में रहने वाले जीव की अन्तर गुहा में प्रविष्ट होकर रक्षा करने वाला कहा गया है, और इसके साथ ही ईश्वर को "विश्वायु" कह कर सब जीव का जीवन कहते हुए सर्वत्र व्यापक भी कहा गया है। अतः हृदय में ही रहने के कारण जीव का परिमाण अणु है।

म० वायु—सभ्य पुरुषो! आपने महर्षि अग्निदेव के मुखारविन्द से ऋग्वेद का मनोहर प्रवचन सुना है। अब यजुर्वेद के वचनामृत का भी पान कीजिए—

वनेषु व्यन्तरिक्षं ततान वाजमर्वत्सु पय उस्रियासु।
हृत्सु क्रतुं वरुणो विक्ष्वग्निं दिवि सूर्यमदधात् सोममद्रौ॥ य० ४।३१

[वरुणः] वरने योग्य भगवान् ने [वनेषु] वन में अथवा सूर्य की किरणों में [अन्तरिक्षम्] आकाश अर्थात् अवकाश को [विततान] फैलाया [अर्वत्सु] घोड़ों में अथवा विद्युत् आदि में [वाजम्] वेग को [उस्रियासु] धेनुओं में [पयः] दूध को [हृत्सु] हृदयों में [क्रतुम्] कर्मकर्त्ता जीव को [ओ३म्] क्रतो स्मर य० ४०।१५ हे क्रतो! कर्मकर्ता जीव याद कर' इस मन्त्र भाग में जीव को क्रतु कहा गया है। [विक्षु] प्रजाओं में [अग्निम्] अग्नि तत्त्व को [दिवि सूर्यम्] द्युलोक में सूर्य को और (अद्रौ सोमम्) पर्वत में सोम को [अदधात्] स्थापित किया है।

इस मन्त्र में भगवान् ने आत्मा की स्थापना हृदय में की है, और व्यापक आत्मा हृदय-जैसे छोटे स्थान में समा नहीं सकता; अतः आत्मा का परिमाण अणु है।

अप्स्वग्ने सधिष्टव सौषधीरनुरुध्यसे। गर्भे सन् जायसे पुनः॥
य० १२।३६

(अग्ने) हे ज्ञानवान् जीव! शरीर से निकलने के बाद (तव-सधिः) तेरा सहस्थान (अप्सु) जल से भरे हुए आकाश के वायुमण्डल में हुआ, फिर (स ओषधीः) वह तू ओषधियों का (अनुरुध्यसे) अनुरोध करता है अर्थात् उनके साथ रहता है (पुनः) और फिर (गर्भे सन्) गर्भ में रहता हुआ (जायसे) उत्पन्न होता है।

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

इस मन्त्र में आत्मा का वायु आदि विभिन्न स्थानों में घूमते हुए गर्भ में आकर ठहरना, और फिर वहाँ से बाहर आना कहा गया है, व्यापक में न क्रिया हो सकती है, न वह आ जा सकता है, और न गर्भ-जैसे छोटे स्थान में समा सकता है अतः आत्मा का परिमाण अणु है।

"असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥ य० ४०।३

[असुर्याः] असुरों को प्राप्त होने वाली [नाम] प्रसिद्ध [ते लोकाः] वे योनियां हैं जोकि [अन्धन] अन्धकारमय [तमसा] अविद्या से [आवृताः] आच्छादित हैं [ते] वे [प्रेत्य] यहां से जाकर [तान्] उन योनियों में [अपिगच्छन्ति] प्रविष्ट होते हैं [ये के च] कि जो [आत्महनः] आत्मघाती—आत्मा के विरुद्ध चलने वाले [जनाः] लोग हैं

इस मन्त्र में जीव का शरीर से निकलकर जाना और फिर दूसरी योनि में आना कहा गया है। निकलना, जाना, तथा आना व्यापक आत्मा के लिए सम्भव नहीं, अतः आत्मा का परिमाण अणु है।

वि० बो०—भगवन्! आपके वेद में:—

"हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। योऽसावादित्ये पुरुषः सोसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म" य० ४०।१७

यह मन्त्र आया है, इसका भाव यह है कि चमकीले पात्र से अर्थात् मन-मोहक प्रकृति से सत्य का अर्थात् भगवान् का "मुख" अर्थात् ज्ञान ढका हुआ है। जो आदित्य में पुरुष है वह ही "अहम्" अर्थात् मेरा आत्मा है। वह आदित्य पुरुष ओ३म् "खम्" आकाश की तरह व्यापक और अतएव ब्रह्म है।

इस मन्त्र में आदित्य पुरुष ब्रह्म का और आत्मा का अभेद कहा गया है, इसलिए परमार्थ अवस्था में जीव व्यापक ही हो जाता है और उसका परिमाण विभु है। अन्यत्र जो उसको अणु कहा गया है वह कथन बुद्धि उपाधि के कारण संगत हो सकता है। आपका इस विषय में क्या विचार है?

म० वा०—महात्मन्! मत प्रकट करने की आवश्यकता तो तब हुआ करती है जब मन्त्र में दो प्रकार के भावों की झलक हो। यहाँ तो मन्त्रार्थ करने से स्पष्ट ही विशुद्ध ब्रह्म का वर्णन मिलता है। जीवात्मा का बोधक इसमें कोई वाक्य है ही नहीं। परमात्मा स्वयं कह रहे है—

प्रकृति की चमक-दमक से मुझ सत्स्वरूप का मुख अर्थात् ज्ञान ढका हुआ है अतः तुम मुझे देख नहीं सकते, मैं वह हूँ, जो आदित्य में निवास करता हुआ आकाश की तरह से ब्रह्म अर्थात् व्यापक हूँ, और मेरा नाम ओ३म् है। इस भावार्थ को देखकर आप समझ सकेंगे कि इस मन्त्र में जीवात्मा का कहीं भी उल्लेख नहीं है जिससे कि अभेद सिद्ध हो सकता हो।

वि० बो०—भगवन्, इसके अतिरिक्त आपके वेद में और भी मन्त्र जीव ब्रह्म का अभेद प्रकट करते हैं। देखिए—

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

'यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो नविजुगुप्सते' ॥ य० ४०।६

जो सब भूतों को अपनी आत्मा में देखता है और सब भूतों में अपनी आत्मा को देखता है उस दर्शन के बाद वह निन्दा का पात्र नहीं बनता । इसी प्रकार:—

'यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' य० ४०।७

जिस ज्ञानी के अन्दर सब भूत आत्मा ही हो गये हैं, उस एकता को देखने वाले के लिए मोह और शोक क्या चीज रह गई ।

म० वा०—महात्मन् ! ये मन्त्र चालीसवें अध्याय के हैं । भगवान् ने पहले सात मन्त्रों में कर्मवाद का वर्णन कर इन तीन मन्त्रों में समाजवाद का उत्कृष्ट रूप दिखलाया है । एक सामाजिक पुरुष समाज के साथ अपने सम्बन्ध को जिनके आधार पर अटूट बना सकता है, उन नियमों का इन मन्त्रों में रहस्यपूर्ण वर्णन किया गया है, पहले मन्त्र में एक आत्मा दूसरे आत्मा को अपने अन्दर और अपने आपको दूसरे के अन्दर प्रविष्ट हुआ पाता है, एक दूसरे के सुख तथा दुःख का अनुभव कर उसे अपना समझते हुए उसके दूर करने की भावना जितनी शीघ्र आत्मा में निकट होते हुए जगाई जा सकती है इतनी दूर होते हुए नहीं, अतः जो मनुष्य जिससे संगठित होना चाहता है वह उसे प्रतिक्षण अपने अन्दर देखे, इस सामाजिक व्यवहार का वर्णन इस मन्त्र में किया गया है ।

अभी भी इस व्यवहार को आरम्भिक अतएव अधूरा समझ, भगवान् इसे पूर्ण करने के लिए दूसरे मन्त्र में दूसरे नियम का उपदेश करते है । पहले मंत्र के अनुसार सामाजिक पुरुष एक दूसरे के आत्मा को अपने अन्दर देखते थे यद्यपि वे निकट पहुँच गये थे, परन्तु फिर भी उनमें से एक-दूसरा एक-दूसरे को पृथक् ही प्रतीत होता था, अतः इस मंत्र में उस भावना को एक-दूसरे को अपना रूप देखने का उपदेश कर और भी ऊँची उठा दिया गया है । इस भावना के अनुसार अब एक-दूसरा एक-दूसरे को अपना रूप ही देखता है । अब तो यह दूसरे के दुःख को दूसरे का न समझ साक्षात् अपना ही समझेगा, और उसे दूर करने के लिए तत्काल ही प्रयत्न आरम्भ कर देगा । यह भावना समाज के सब नियमों की प्रकृष्ट आधारशिला है । हृदय में इसका जन्म हुए बिना सब नियम अधूरे हैं । वे सब मिलकर भी इसके बिना समाज के व्यक्तिभेद को एक रूप नहीं दे सकते, और जब तक यह एकता सिद्ध न हो उन व्यक्तियों का एक नाम समाज रक्खा जाना ही असम्भव है । अतः वेद ने इन मंत्रों में मानव जगत् को प्रेम के बन्धन में बाँधने के लिये तथा उसके इस लोक को सुखमय बनाने के लिए इस भव्य भावना का उपदेश दिया है । मनुष्य जिस स्थिति में होता है अपने भगवान् को भी वह उसी रूप में याद करता है, अतएव पहले मंत्रों में कर्म का उपदेश देने के बाद जीव ने अपने उपास्यदेव भगवान् को अपनी स्थिति के अनुसार ही याद किया है, कर्म करता हुआ वह कभी दौड़ता था और कभी ठहर जाता था, अतएव उसने अपने भगवान् के लिए भी वैसी ही स्तुति करनी आरम्भ कर दी । 'तदेजति तन्नैजति' वह गति कर रहा है और नहीं, 'तद्दूरे तद्वन्तिके' वह दूर चला गया और अब पास है । 'यद्यपि भाव और है परन्तु स्तुति का बाह्य रूप उसकी कर्म भावना का ही प्रतीक है ।'

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

परन्तु अब जब वह एक सामाजिक प्राणी है, और पृथक् न रह किसी समाज का अंग बन उसके साथ मिलकर एक बन गया है, तो अब भी अपने भगवान् को अपनी स्थिति के अनुसार ही याद करता है। वह कहता है—'स पर्यगात्' (वह सब ओर फैला हुआ है—सबके अन्दर फैला हुआ है) अब उसका भगवान् उससे दूर खड़ा चल नहीं रहा, उसके अन्दर पहुँच गया है, और फिर इसी काल में औरों के अंदर भी फैला हुआ सूत्र बन इसे औरों के साथ मिलाकर एक कर रहा है। इस प्रकार इन मंत्रों में उत्कृष्ट सामाजिक नियमों का वर्णन कर इस लोक की कर्म द्वारा प्राप्त की हुई सम्पत्ति को सुखमय बनाने का उपाय बतलाया गया है।

यदि इन मंत्रों में अभेद सम्पत्ति का वर्णन कर कर्म की समाप्ति कर दी होती तो आगे चलकर परलोक फल अमृत प्राप्ति के लिए—

'विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयँसह'

(विज्ञान और कर्म को जो एक साथ जानता है) इस ज्ञान-कर्म-समुच्चय के विधान की आवश्यकता ही क्या थी ? अतः यह आत्मा और ब्रह्म के अभेद का वर्णन नहीं और इसीलिये आत्मा के व्यापकत्व की सिद्धि नहीं कर रहा।

म० आदित्य—सभ्य पुरुषो, आपने महर्षि वायुदेव का प्रवचन सुन लिया है। कितना भावपूर्ण और गम्भीर भाषण था। अब आप भगवान् सामवेद का भी उपदेश सुनिये। और वेदों की तरह सामवेद भी जीव का परिमाण अणु ही मानता है।

वृषामतीनां पवते विचक्षणः सोमो अह्नां प्रतरीतोषसां दिवः। प्राणा सिन्धूनां कलशांमचिक्रदविन्द्रस्य हार्द्याविशन्मनीषिभिः। मनीषिभिः पवते पूर्व्यः कविर्नृभिर्यतः परिकोषानसिस्यदत्। त्रितस्य नाम जनयन् मधु क्षरन्निन्द्रस्य वायं सख्याय वर्द्धयन्। अयम्पुनान उषसो अरोचयदयं सिन्धुभ्यो अभवदुलोककृत्। अयं त्रिःसप्त दुदुहान आशिरं सोमो हृदे पवते चारु मत्सरः। (सा० उ० अ० प्र० २ अ० प्र० १ मं० १७)।

(मतीनाम्) बुद्धियों का (वृषा) सींचनेवाला (विचक्षणः) विशिष्ट द्रष्टा (सोमः) अमृत का सेवन करने वाला (अह्नाम्) जीवन दिनों की (उषसाम्) उषाओं का (दिवः) प्रकाशित करने वाला भगवान् (पवते) पवित्र कर रहा है। (प्राणा) प्राण, (सिन्धूनाम्) प्राणवहा नाड़ी रूप नदियों की (कलशाम्) ध्वनित होने वाली शक्ति को (कलं शवतीति 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते)' पा इति डः (अचिक्रदद्) ध्वनित कर चुके हैं, अर्थात् अनाहत नाद को प्रकट कर चुके हैं। और अब (मनीषिभिः) मन की शक्तियों पर अधिकार करने वाले गुरुओं के द्वारा अर्थात् उनकी सहायता से (हार्दि) हृदय में (आविशन्) प्रवेश कर रहे हैं। अर्थात् अपना काम पूरा कर घर में आ गये हैं (पूर्व्यःकविः) प्राचीन कवि—वेदों का वक्ता भगवान् (मनीषिभिः) मनों पर अधिकार करने वाले (नृभिः) मनुष्यों, गुरुओं के द्वारा (पवते) पवित्र करता है। (यतः) जिससे कि (त्रितस्य) तीन गुणों में बँधे हुए (इन्द्रस्य) आत्मा के (नाम जनयन्) स्वरूप प्रकट करता हुआ (वायुम्) प्राण वायु को (इन्द्रस्य) आत्मा के (सख्याय) मित्रता के लिए (वर्धयन्) उन्नत करता हुआ (मधु क्षरन्) आनन्दरूप अमृत को टपकाता हुआ (परिकोशाम्) मनोमय कोश के सब ओर (असिष्यदत्) ज्ञानधारा को बहा रहा है। (पुनानःअयम्) पवित्र करते हुए इसने (उषसः) जीवन

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

की उषा को (अरोचयत्) चमका दिया है। (अयम्) यह भगवान् (सिन्धुभ्यः) प्राणा वहा नाड़ी रूप नदियों के लिये (लोककृत्) प्रकाश को प्रकट करने वाला (अभवत् उ] हुआ है (चारुमत्सरः) मनोहर हर्ष को प्राप्त करने वाला(अयम्-सोमः) यह अमृत का सेवन करने वाला भगवान् (त्रिसप्त) दश इन्द्रियाँ, दश प्राण और, मन इन इक्कीस को [दुदुहानः] दुहता हुआ, इनसे सत्व गुण रूपी मक्खन निकालता हुआ [हृदे] हृदय में वर्तमान [आशिरम्] ज्ञानरूप भोजन करने वाले आत्मा को (अशेणिच्चेति किरच्) [पवते] पवित्र कर रहा है।

इस मन्त्र में आत्मा का निवास हृदय में बतलाया है और हृदय-जैसे छोटे स्थान में व्यापक आत्मा का समाना असम्भव है अतः आत्मा का परिमाण अणु है।

म० अंगिरा—सभ्य पुरुषो, आप संगीत के मनोहर स्वरों में महर्षि आदित्य का प्रवचन सुन चुके हैं। अब हम भी भगवान् के शब्दों में कुछ विचारधाराएं आपके सामने उपस्थित करते हैं, सुनिए।

'अनच्छये तुरगातु जीवमेजद् ध्रुव मध्य आ पस्त्यानाम्।
जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ॥

अ० ६।१०।८

(ध्रुवम्) निश्चय होता हुआ (तुरगातु) वेग वालों की तरह सर्वत्र पहुँचा हुआ (पस्त्यानाम्) जीवों के घरों—अर्थात् शरीरों के (मध्ये) बीच में (जीवम्) जीव को (अनत्) प्राणित करता हुआ (आशये) सर्वत्र सो रहा है—अर्थात् व्यापक होकर वर्तमान है (मर्त्यना) मरणधर्मा शरीर के (सयोनिः) साथ रहने वाला (मृतस्य) मरे हुए पुरुष का (जीवः) जीव (स्वधाभिः) अपने कर्मफलों के अनुसार (एजत्) प्रभु से चलाया हुआ (चरति) भिन्न-भिन्न योनियों में भ्रमण करता है।

इस मन्त्र में जीव का एक शरीर से दूसरे शरीर में भ्रमण करना अर्थात् जाना-आना वर्णन किया है और यह क्रिया व्यापक में हो नहीं सकती अतः जीव अणु है।

अव्यसश्च व्यचसश्च बिलं वि ष्यामि मायया।
ताभ्यामुद्धृत्य वेदमथ कर्माणि कृण्महे। अ० १९।६८।१

[अव्यसः] अव्यापक अर्थात् अणु [व्यचसः] और विविध गतियों [उत्क्रान्ति, गति, आगति] वाले हम (विपूर्वादञ्चेर्बाहुलकादसुन्) [मायया] अविद्या से [बिलम्] छिद्र—अर्थात् मोहादि दोषों से (विभक्तिव्यत्ययः) [कर्माणि कृण्महे] कर्म कर रहे हैं (अथ) अत्र (ताभ्याम्) उन अविद्या और दोष से अर्थात् उनकी आक्रान्ति से (वेदमुद्धृत्य) ज्ञान का उद्धार कर [वि-स्यामि] उन दोषों का अन्त करते हैं। (वचनव्यत्यय)।

इस मन्त्र में जीव को साक्षात् 'अव्यस' अव्यापक पद से अणु कहा गया है, और उसकी उत्क्रान्ति आदि गतियों का भी वर्णन किया गया है।

वेद के द्वारा जीव के अणु परिमाण का साक्षात् कथन हो जाने पर अब इसके परिमाण के सम्बन्ध में किसी संशय का अवकाश नहीं रहा। अतः हम अपने इस कथन को यहीं समाप्त करते हैं।

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

अ० बो०—पूज्य महर्षिगण ! तथा उपस्थित सभासद् सज्जनो ! प्रातः-स्मरणीय अक्षपाद आदि विद्वान् महर्षियों के अन्तिम निर्णय से आज के बाद का विषय निर्धारित हो गया है, । आप सबने इसे सुन ही लिया है, परन्तु मैं अपने कर्तव्य के अनुसार एक बार फिर इसकी घोषणा किये देता हूँ; आप सब ध्यान से सुनें । आज जीवात्मा के परिमाण के विषय में विचार-विनिमय आरम्भ हुआ था, और अब उसका अणु परिमाण निश्चित हो जाने के बाद उसकी समाप्ति के साथ ही सभा का कार्यक्रम समाप्त किया जाता है । अग्रिम सभा के लिए जो विचारणीय विषय प्रस्तावित होगा उसकी सूचना पत्रों द्वारा आपको पहुँचा दी जावेगी ।

अंत में मैं पूज्य महर्षियों तथा सभा में भाग लेने वाले अन्य महानुभावों का धन्यवाद करता हूं कि आप सबने प्रेमपूर्वक विचार-विनिमय किया और सुना है ।

ज्ञानानन्द—मित्रगण ! हम सब यहाँ पचास मील की लम्बी यात्रा कर सत्संग से लाभ उठाने के लिए जिस भावना से आये थे, भगवान् की कृपा से वह पूर्ण हुई । सब लोग जा रहे हैं, आइये अब हम भी घर चलें । ओ३म् शान्तिः ।

ट्रैक्ट : १००) हजार

१. आर्यसमाज क्या मानता है ? श्री मदनमोहन विद्यासागर
२. महर्षि दयानन्द की विशेषताएं : महात्मा नारायण स्वामी
३. आर्यसमाज की मान्यताएं : पं० रामचन्द्र देहलवी
४. विश्व को वेद का सन्देश—पं० भारतेन्द्रनाथ
५. आर्यसमाज के दस नियम [व्याख्या सहित]
६. निमन्त्रण आर्यसमाज का : स्व० पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय
७. आर्यसमाज के १०० वर्ष : पं० भारतेन्द्रनाथ
८. सुख का मार्ग : पं० भारतेन्द्रनाथ
९. आर्य कौन ? पं० हरिशरण सिद्धान्तालंकार
१०. स्वास्थ्य का महान् शत्रु अण्डा : स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती
११. साम्यवाद—समाजवाद क्यों नहीं ? महात्मा नारायण स्वामी
१२. स्वमन्तव्यान्तव्यप्रकाश : महर्षि दयानन्द
१३. मूर्ति पूजा से हानियाँ : महर्षि दयानन्द
१४. आर्योद्देश्य रत्नमाला : महर्षि दयानन्द
१५. वैदिक संध्या—अर्थ सहित   १६. वेद महिमा

ये सभी ट्रैक्ट १००) हजार—१५) सैंकड़ा दिए जाएंगे । ट्रैक्ट २१००० से कम हजार के रेट में नहीं भेजेंगे ।

भारी संख्या में मंगाकर प्रचार करें

दयानन्द-संस्थान, नई दिल्ली-५

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

स्व० श्री आचार्य पं० अयोध्याप्रसाद, बी. ए., वैदिक रिसर्च स्कालर का एक महत्त्वपूर्ण लेख

ओ३म् माहात्म्य

संसार में ईश्वर की सत्ता मानने वाले जितने भी धार्मिक सम्प्रदाय हैं, उन सब में अपने २ उपास्य देव के अनेकानेक नाम उनकी भाषा में विद्यमान हैं। उन नामों में से प्राय: समस्त नाम उनके उपास्य देव के भिन्न-भिन्न गुणों, कर्मों और स्वभावों के परिचायक हैं अर्थात् कतिपय नामों में तो परमात्मा के किसी विशेष गुण का ही बोध होता है तथा अन्य नामों से उसके कर्म का परिचय मिलता है और बहुत से नामों से उपास्यदेव के स्वभाव का परिज्ञान होता है। हमारी संस्कृत भाषा में उपास्य देव के कितने नाम हैं, इसकी गणना नहीं हो सकती। संस्कृत भाषा में जितने भी शब्द हैं, प्राय: उन सब शब्दों द्वारा परमात्मा के किसी न किसी विशेष गुणों का परिचय मिलता है। अत: उन शब्दों से परमात्मा का बोध हो जाता है। जैसे आदित्य शब्द है, "दो अवखण्डने" इस धातु से अदिति और इसमें तद्धित के प्रयोग से "आदित्य" शब्द सिद्ध होता है। अर्थात् जिसका विनाश कभी न हो, उसी ईश्वर की यह आदित्य संज्ञा है। पर भौतिक अर्थ में सूर्य को भी आदित्य कहते हैं। इसी प्रकार "अञ्चु" धातु "गति" और "पूजा" के अर्थ में प्रयुक्त होता है। अग्, अगि, और इण्, ये सब धातु भी गति अर्थ में प्रयुक्त होते हैं तथा इन्हीं धातुओं से अग्नि शब्द भी सिद्ध होता है। सर्वसाधारण की दृष्टि में इसका अर्थ "आग" है, पर ईश्वर के पक्ष में ज्ञानस्वरूप, सर्वज्ञ, जानने, प्राप्त होने और पूजा करने योग्य होने के नाते उस परमेश्वर का नाम भी अग्नि है। स्पर्श ज्ञान से वायु को भी सब जानते हैं "वा गति गन्धनयो:" इस धातु से वायु शब्द सिद्ध होता है, तथा जो चराऽचर जगत् का धारण, जीवन और प्रलय करता, और सब बलवानों का भी बलवान् है, इससे उस ईश्वर का नाम वायु अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। "**सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुष:**" यजुर्वेद के इस मन्त्र भाग के अनुसार सूर्य जड़ और चेतन पदार्थों का प्रकाशक है, संसार सूर्य को इस प्रकार भौतिक जगत् का अग्नि का गोला समझता है, परन्तु समस्त जंगम और स्थावर पदार्थों का भी जो प्रकाशक स्वरूप है, अत:

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

"सूर्य" परमपिता परमेश्वर का भी द्योतक है। इसी प्रकार "पृथु विस्तारे" इस धातु से पृथिवी शब्द सिद्ध होता है, सांसारिक अर्थों में इसका अर्थ भी जमीन है, पर जो इस विस्तृत जगत् का विस्तार करने वाला है, ऐसा वह परमपिता परमात्मा "पृथ्वी" भी है। ऐसे ही प्यास लगने पर हमारे मुँह से जल शब्द उच्चरित होता है, बिना इसके संसार का काम नहीं चल सकता। क्योंकि वह हमारे व्यवहार की वस्तु है, परन्तु यही जल शब्द "जल घातने" धातु से व्याकरण द्वारा सिद्ध होता है जिसका ईश्वरपरक अर्थ दुष्टों का ताड़न और अव्यक्त तथा परमाणुओं का अन्योऽन्य संयोग व वियोग करना हैं। अतः वह परमात्मा जलसंज्ञक कहलाता है।

"कुवि आच्छादने" इस शब्द से कुबेर शब्द सिद्ध होता है, लौकिक अर्थ में तो धन के स्वामी का अर्थ कुवेर है, पर "जो अपनी व्याप्ति से सबका आच्छादन करे, इससे उस परमेश्वर का नाम कुवेर है। इसी प्रकार राहु, शनि, शुक्र, मंगल, बुध, चन्द्र, केतु, यज्ञ,—आदि ये सब भौतिक पदार्थों में प्रयुक्त हुए संस्कृत के शब्द भिन्न-भिन्न अर्थों में ईश्वर के भी बोधक हैं। इसी प्रकार और भी अनेकानेक परमात्मा के भिन्न-भिन्न असंख्य नामों के उल्लेख किये जा सकते हैं। उन नामों में से प्रत्येक नाम प्रभु परमेश्वर के किसी न किसी विशेष गुण व कर्म के परिचायक होते हैं। परन्तु उस उपास्य देव का एक मुख्य नाम ऐसा भी होना चाहिये जिस नाम के अन्तर्गत उसके असंख्य नामों का समावेश हो जावे। और उस एक नाम से ही उसके समस्त गुणों, कर्मों और स्वभावों का बोध हो सके। वह परम पवित्र नाम प्रणव अथवा ओ३म् ओंकार है जैसा कि महर्षि पतञ्जलिने योग दर्शन में कहा है।

तस्य वाचकः प्रणवः ॥ योग० १।२८ ॥

(प्रणव) अर्थात् "ओ३म्" जिस जगन्नियन्ता सर्वव्यापक सर्वेश्वर सर्वाधार और सच्चिदानन्द प्रभु का अपना नाम है, इस "ओ३म्" के साथ इसका नित्य सम्बन्ध है। इसी प्रकार यजुर्वेद के ४०वें अध्याय में "ओ३म्" शब्द का अनेक बार प्रयोग हुआ है।

यथा:—**ओ३म् क्रतो स्मर बिलबे स्मर कृतं स्मर।**

अर्थात्—हे कर्म करने वाले जीव! मृत्यु को प्राप्त होते हुए भी तू अपने अन्तिम क्षण पर्यन्त "ओ३म्" इस नाम वाच्य ईश्वर को स्मरण कर, अपने सामर्थ्य के लिये "ओ३म्" रूपी परमपिता परमात्मा और अपने सामर्थ्य का स्मरण कर, तथा इसी ओंकार के साथ मनका सम्बन्ध जोड़ते हुए अपने किये का स्मरण कर।

आगे चलकर यजुर्वेद के इसी ४०वें अध्याय के अन्तिम १७वें मन्त्र को देखें,

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्॥
ओ३म् खं ब्रह्म॥

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

संसार के समस्त मनुष्यों के प्रति प्रभु उपदेश देते हैं कि हे मनुष्यो ! जैसे मैं इहलोक में हूं, वैसे ही अन्यान्य सूर्यादिलोकों में भी अवस्थित हूं। विशाल व्योम की व्यापकता के तुल्य मेरा अस्तित्व है, मुझ से अधिक कोई व्यापक नहीं, और न ही मुझसे अधिक कोई बड़ा है। मेरे सुलक्षणों से युक्त पुत्र के तुल्य प्राणों से भी प्यारा मेरा अपना महान् नाम "ओ३म्" है, अतः प्रेम और सत्य व्यवहार के साथ जो मेरा नाम ओ३म् के रूप में स्मरण करते हैं तथा इसकी जब शरण में आ जाते हैं, उनके अविद्यादि दोषों को अन्तर्यामी रूप से नष्ट करके विज्ञान द्वारा सुख प्रदान करते हुए मोक्ष को प्राप्त करता हूँ।

यजुर्वेद के अन्य स्थान पर भी किस प्रकार "ओ३म्" का वर्णन है वह आप देखें:—

ओ३म्—मनो जूतिर्जुषतामाज्यस्य बृहस्पतिर्यज्ञमिमन्तनोत्वरिष्टम्। यज्ञं समिमन्दधातु विश्वेदेवास इह मादयन्तामोम्प्रतिष्ठ ॥ यजु० २।१३ ॥

इस मन्त्र में भी ईश्वर आदेश देता है कि मनुष्यो ! अति तीव्र गतिवाला तुम्हारा चञ्चल मन यज्ञानुष्ठान में लगा रहकर सुखी होवे, तथा संसार के समस्त प्राणियों को भी सुखी बनावे, "ओ३म" यह मेरा उत्तम नाम है, जैसे पिता और पुत्र का प्रिय सम्बन्ध है, वैसे-ही मुझ परमेश्वर के साथ भी ओंकार का अनुपम सम्बन्ध है। "ओं प्रतिष्ठ" हे ओंकार प्रभो ! आप मेरे हृदय में प्रतिष्ठित होवें।

इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में "ओ३म्" शब्द किस प्रकार आया है यह भी यहाँ देखने योग्य है।

ओमासश्चर्षणी धृतो विश्वेदेवास आ गत।
दाश्वांसो दाशुषः सुतम् ॥ ऋ० १।३।७ ॥

इस मन्त्र में "ओमासः" यह एक पूर्ण पद है, परन्तु सन्धि विच्छेद होने पर "ओम्+आसः" ऐसा रूप हो जाता है। परब्रह्म "ओं" परमेश्वर का नाम है, तथा "आस्" का अर्थ समीप बैठने वाले का है, अर्थात् ब्रह्म के पास बैठने वाले ब्रह्मज्ञानी। इस मन्त्र का पूर्ण अर्थ इस प्रकार है कि हे समस्त विद्वानो ! सोम आदि पदार्थ और विज्ञान के प्रकाशक एवं सत्कार से परिपूरित मेरे घर पर कृपा करके आप आवें, आप लोग कैसे हैं ? (ओमासः) ब्रह्म के निकट बैठने वाले, ब्रह्म के तत्त्व को जानने वाले तथा प्रजाओं को धारण व उनके पोषण करने वाले और विविध विज्ञान को देने वाले हैं।

इससे विदित होता है कि "ओ३म्" की शरण में जाने वाले व्यक्ति ही इस प्रभु के संसार में रहने वाले प्राणियों पर समदृष्टि रखकर सबको सुखी बना सकते हैं, और वे ही "तत्त्वदर्शी" संज्ञा को प्राप्त होते हैं। तथा जो विषम दृष्टि से देखते हुए प्राणियों को कष्ट देते हैं, हिंसा में रत रहते हैं, वे कभी "ओमासः",

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

अर्थात् प्रभु के पास तक नहीं पहुंच सकते, और न ही तत्त्वदर्शी बनकर मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं।

"ओ३म्" के महत्त्व के विषय में ऐतरेय ब्राह्मण ग्रन्थ में भी कितना स्पष्ट लिखा है:—

तान् वेदानभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रीणि शुक्राण्यजायन्त; भूरित्येव ऋग्वेदादजायत; भुवरिति यजुर्वेदात्स्वरिति सामवेदात्। तानि शुक्राण्यभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयो वर्णा अजायन्ताकार उकारो मकार इति तानेकधा समभरत्तदो३मिति ।। ऐत० ५।३२।।

अर्थ:—वेदों को तपाया, उन तपाये हुओं से तीन शुक्र उत्पन्न हुए—ऋग्वेद से भू:, यजुर्वेद से भुव:, और सामवेद से स्व:, फिर उन तीनों शुक्रों को तपाया गया, उन तपाये हुओं से तीन वर्ण उत्पन्न हुए; अकार उकार, और मकार इन तीनों को इकट्ठा किया गया, तब "ओ३म्" यह शब्द बना। तात्पर्य यह कि "ओ३म्" शब्द ही वेदों का सार एवं आधार है। "ओ३म्" शब्द ही वेदों का परम और मुख्य विषय है।

तैत्तिरीयोपनिषद् में आता है कि:—

ओमिति ब्रह्म। ओमितीदँ सर्वम्। ओमित्येतदनुकृतिहस्म वा अप्योश्रावयेत्याश्रावयन्ति। ओमिति सामानि गायन्ति; ओँ शोमिति शस्त्राणि शँसन्ति। ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति। ओमिति ब्रह्मा प्रस्तौति; ओमित्यग्निहोत्रमनुजानाति; ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह; ब्रह्मोपाप्नवानीति ब्रह्मैवोपाप्नोति ।।

"ओ३म्" ब्रह्म है। "ओ३म्" ही सब कुछ है अर्थात् ओ३म् नामक प्रभु ही इस संसार में सारवस्तु है। यज्ञ में "ओ३म्" यह शब्द अनुकरण वाचक है। यह प्रसिद्ध है, यज्ञ में इसी को सुनते सुनाते हैं। सामवेदज्ञ ओं का ही गान करते हैं। ऋग्वेदी लोग विविध शास्त्र विधान से इसी ओ३म् का स्तुति गान करते हैं। यजुर्वेदी अध्वर्यु भी ओ३म् का उच्चारण करता है। ब्रह्मा "ओ३म्" के द्वारा ही आज्ञा करता है। ओ३म् कहकर ही अग्निहोत्र की आज्ञा देता है। ब्रह्मवित् पुरुष "ओ३म्" शब्द के द्वारा प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि मैं इसके द्वारा ब्रह्म को प्राप्त होऊँ, वे अवश्य ही ब्रह्म को प्राप्त होते हैं।

कठोपनिषद् में लिखा है कि:—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ।।

कठोपनिषद् ।। २।१५ ।।

अर्थात् सब वेद जिस पद का कथन करते हैं, सारे तप जिसको कहते हैं,

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

जिसकी इच्छा करते हुए ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं, उस पद को तेरे लिये संक्षेप से कहता हूं; वह "ओ३म्" है।

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतदेवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्यतत् ।। २।१६ ।।

यह ओ३म् अक्षर ही परम ब्रह्म है। यही अक्षर सर्वोत्तम है। इसी अक्षर को जानकर जो भी मनुष्य जो कुछ भी चाहता है, वह उसको अवश्य ही प्राप्त हो जाता है। इसलिये :—

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ।।

यह (ओ३म्) ओंकार रूपी आश्रय श्रेष्ठ है, यही आश्रय सर्वश्रेष्ठ है, इसी आश्रय को जानकर प्राणी मोक्ष को प्राप्त होता है।

मुण्डकोपनिषद् में आता है कि:—

प्रणवो धनुःशरोह्यात्मा ब्रह्मतल्ल लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्। मुण्डकोपनिषद् ।। २।२।४ ।।

ओ३म् नाम के धनुष पर आत्मा रूपी बाण को चढ़ाकर योगी लोग अप्रमत्त अवस्था में तन्मय होकर ब्रह्मरूपी लक्ष्य को बींधते हैं जिससे उनको अनन्त और सुख का अक्षय भण्डार प्राप्त हो जाता है।

वेद प्रतिपादित सिद्धान्तों से भिन्न मति रखने वाले वैदिकेतर जैन, बौद्ध आदि सम्प्रदायों में भी "ओ३म्" शब्द का वर्णनातीत मान है। इस विषय में एक उदाहरण मोनिअर विलियम्स् अपने कोष A Sanskrit=English Dictionary में देते हैं कि "Buddhists place OM at beginning of their Shadakshari or mystical Formulary in six syllables Viz; "Om Mani Padme Hum".

अर्थात् बौद्धओं शब्द को अपनी षडक्षरी या छह अक्षरों वाले मन्त्र के प्रारम्भ में रखते हैं। अर्थात् "ओं मणि पद्मे हुम्"

मूलः—क्योंकि इसमें अ, उ और म् तीन अक्षर मिलकर एक ओम् समुदाय हुआ है। इस एक नाम से परमेश्वर के बहुत नाम आ जाते हैं। जैसे:—अकार से विराट्, अग्नि, और विश्वादि। उकार से हिरण्यगर्भ, वायु, और तेजसादि, मकार से ईश्वर, आदित्य और प्राज्ञादि नामों का वाचक और ग्राहक है।

भाष्यः—यह भाव माण्डूक्योपनिषद् के निम्नलिखित वाक्यों के आधार पर लिखा गया है—

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

सोऽयमात्माऽध्यक्षरमोङ्कारोऽधि मात्र पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति ॥ ८ ॥

जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्रा ॥ ९ ॥

स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रा ॥ १० ॥

सुषुप्त स्थानः प्राज्ञः मकारस्तृतीया मात्रा ॥ ११ ॥

इसी विषय में पुनः आता है कि

आप्लेरादिमत्त्वादाप्नोति ह वै सर्वान् कामान् आदिश्च भवति य एवं वेद ॥ ९ ॥

यहाँ अकार को "आप्लृ व्याप्तौ" धातु से सिद्ध किया गया है।

जाग्रत् अवस्था वाला विश्व नामक प्रथम पाद ही ओंकार की प्रथम मात्रा अकार है। जिस प्रकार अकार सबसे प्रथम अक्षर सब वर्णों में व्याप्त है, उसके बिना कोई वर्ण नहीं बोला जाता, इसी प्रकार सब पादों में पहिला विश्व नामा पाद तीनों पादों में व्याप्त है। व्याप्त होने से ही उसका नाम विराट् है।

उत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै ज्ञान सन्तति समानश्च भवति।

"उ" उत्कर्ष वा उभय से बना बताया गया है। उत्कर्ष कृष् धातु से बना है जिसका अर्थ खींचना होता है (चित्र खींचना) इसलिये "उ" का अर्थ चित्र तैयार करना (Design) और बनाना (Execute) है।

मितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इदं सर्वम्……॥११॥

"म्" का अर्थ यह हुआ कि जो सबको नाप रहा है, अथवा सबका आश्रय है। और:—

इधर मनु महाराज ने सृष्टि की तीन अवस्थाओं को ब्रह्म की तीन अवस्थायें कल्पना करके "ओ३म्" की तीन मात्राओं के साथ मिलाया है। जैसे: —

अकारञ्चाप्युकारञ्च मकारञ्च प्रजापतिः
वेदत्रयान्निरदुहद् भूर्भुवः स्वरतीति च ॥ मनु० २।७३ ॥

अर्थात् प्रजापतिने, जिस प्रकार दूध से मक्खन निकाला जाता है, इसी प्रकार अकार, उकार, और मकार को ऋग, यजुः और साम रूपी दूध से मक्खन के रूप में निकाल लिया है साथ ही भूः, भुवः और स्वः इन तीन महाव्याहृतियों को भी।

जो प्रमाण ऐतरेय ब्राह्मण ५। ३२।। का ऊपर दिया गया है, उसका भी यही भाव है।

आप्टे के कोष में भी इस विषय में लिखा है।

The letter "A" is Vaishvanar the Spirit of waking Soul in the waking World, "U" is Taijas the Spirit of dreaming Soul in

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

the world of dreams and "M" is Prajna the Spirit of sleeping and undreaming soul.

अर्थात् "अ" यह अक्षर वैश्वानर है, जो सृष्टि की जागृत अवस्था में आत्माओं की जागृत अवस्था है "उ" तैजस है जो सृष्टि की स्वप्नावस्था में आत्माओं की स्वप्नावस्था है। और "म्" प्राज्ञ है जो कि आत्माओं की सुषुप्तावस्था है। इस प्रकार यहां सृष्टि की तीनों अवस्थाओं को आत्मा की तीनों अवस्थाओं के साथ मिलाया गया है तथा इस प्रकार से ऊपर यह बतलाया जा चुका है कि इन तीनों अवस्थाओं का ब्रह्म के साथ क्या सम्बन्ध है।

अब इन तीनों अवस्थाओं का ब्रह्म से क्या सम्बन्ध है, इस सम्बन्ध में प्रश्नोपनिषद् के पञ्चम प्रश्न को ध्यान पूर्वक देखिये—

अथ हैवं शैब्य: सत्यकाम: पप्रच्छ। स यो ह वै तद्भगवन् मनुष्येषु प्रायणान्तयोंकारमभिध्यायतेनति कतमं वाव स ति लोकं जयतीति ॥१॥

शिवि ऋषि के पुत्र ऋषि सत्यकाम ने महर्षि पिप्पलाद से पूछा कि गुरुवर! संसार में वह अत्यन्त तपस्वी पुरुष जिसने जीवन पर्यन्त जितेन्द्रिय रहकर उस ओंकार रूपी ब्रह्म का उपासना के साथ चिन्तन किया है, वह पुरुष उस ध्यानमय चिन्तन द्वारा इन पृथिव्यादि लोकों में से किस लोक का अधिष्ठातृत्व पद प्राप्त करता है?

सत्यकाम के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए महर्षि पिप्पलाद बोले—

एतद्वै सत्यकाम परञ्चापरञ्च ब्रह्म यदोङ्कारस्तस्याद्विद्वानेते नैवायतनेन कतरमन्वेति ॥२॥

हे सत्यकाम! (इस संसार में रहते हुए मुक्ति लाभ के लिये की गई उपासना) "पर" और (सांसारिक सुख की कामना से की गई उपासना) "अपर" ब्रह्म यही ओङ्कार है, इस प्रकार शब्द और अर्थ के सम्मिलन से उत्पन्न इस ज्ञान को विद्वान् लोगों ने ओङ्कार के नाम से उच्चारित किया है, इसी ओङ्कार के ज्ञान से ज्ञानी पुरुष आत्मज्ञान की प्राप्ति के साधन में "पर" और "अपर" की उपासना से उपासना विधि के पर वा अपर फल को अनुकूलता से प्राप्त करता है।

आगे चलकर महर्षि पिप्पलाद पुनः "ओम्" की तीन मात्राओं के सम्बन्ध में लिखते हैं—

स यद्येकमात्रमभिध्यायीत, सतेनैव संवेदितस्तूर्णमेव जगत्यामभिसंपद्यते। तम्मृचो मनुष्यलोकमुपयन्ते, स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमानमनुभवति ॥३॥

अर्थात् जो प्रभु भक्त ओङ्कार की इस प्रथम मात्रा "अ" का अभिध्यान करता है वह उपासक इस केवल "अ" एक मात्रिक अकार की छोटी-सी उपासना

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

से सचेत होकर अपने कर्त्तव्य पथ पर उद्योग के साथ अग्रसर होता हुआ ब्रह्म ज्ञान से प्रकाशित होकर अवनितल पर राज्यादि सर्वोत्तम सुखों को प्राप्त होता है। उस उपासक पुरुष के लिये ओङ्कार के "अ" की ऋग्वेद रूप एक मात्रा पवित्र यज्ञोपवीत संस्कार द्वारा प्रतिष्ठा व आदर प्राप्त हुए के तुल्य मनुष्यों में मान का हेतु होती है। तप, ब्रह्मचर्य, और श्रद्धा से अभिप्रेत वह मनुष्य परमेश्वर की महिमा का अनुभव करता है अर्थात् उस सच्चिदानन्द के महत्त्व को जानकर स्वयं महा आनन्द को प्राप्त होता है। और :—

अथ यदि द्विमात्रेण मनसि सम्पद्यते, सोऽन्त रिक्षयजुर्भिरुन्नीयते सोम लोकं, स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते ॥

यदि "अ", "उ" इन दो मात्राओं से युक्त उस ओङ्कार ब्रह्म का यावज्जीवन मननपूर्वक ध्यान किया जाय, तो 'इहलीला समाप्त करते हुए वह उपासक कर्मकाण्ड युक्त उपासना द्वारा युक्त यजर्वेद के अभिप्राय में एकाग्रचित्त होता हुआ, सब ओर से मन को खींच कर अन्तरिक्ष में रहने वाले लोकों में उन्नत दशा को प्राप्त होता है। तत्पश्चात् वही उपासक चन्द्रलोक में मन सम्बन्धी समस्त सुखदायिनी सामग्री से उत्पन्न होने वाले आनन्द का अनुभव करके पुनः पृथिवी तल पर उच्च कोटि के ज्ञान सम्पन्न कुलों में जन्म लेता है।

यः पुनरेतत्त्रिमात्रेणैवोमित्यनेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत; स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीय ब्रह्मलोकं; स एतस्माज्जीवघनात्परापरं पुरुषमीक्षते; तदेतौ श्लोकौ भवतः ॥

और जो उपासक "अ", "उ", "म्", इन तीन मात्रा वाले अविनाशी ब्रह्म के नाम से संसार के सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणुओं में भी व्याप्त प्रभु के सम्मुख होकर तदाकार वृत्ति और योगाभ्यास की रीति से ध्यान करता है, वह मरण समय में स्वर्लोकस्थ प्राण से संयुक्त हुआ, जैसे कैंचुली के छूट जाने से सांप निर्मल हो जाता है इसी प्रकार वह उपासक एषणाओं के विकार से छूट कर निर्मल हुआ प्राणों के साथ ज्ञान दृष्टि से देखने योग्य ब्रह्म को प्राप्त होता है।

इसी विषय की पुष्टि के लिये दो मन्त्र और प्रमाण स्वरूप आगे देखिये:—

तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता अन्योऽन्यसक्ता अनविप्रयुक्ताः। क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु सम्यक्प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः।

अर्थात् ओङ्कार को तीन मात्राओं से युक्त योगाभ्यास के समय में अवस्थित ज्ञान योग में तत्पर योगी जाग्रत् सुषुप्ति एवं बाह्य वृत्तियों से आक्रान्त अवस्थाओं के वश में न होकर अपने कर्त्तव्य पथ पर स्थित रहता है।

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं स सामभिर्यत्तत्कवयो वेदयन्ते । तमोङ्कारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान् यत्तच्छान्तमजरममृतमयं परं चेति ॥

उस शान्त स्वरूप, अजर, अमर और अभय, सर्वान्तर्यामी प्रभु को विद्वान् एवं ज्ञान सम्पन्न योगी ऋग्वेद की विज्ञान परक स्तुतियों से, यजुर्वेदीय कर्मकाण्ड-ज्ञान से, सामवेद के प्राणायामादि ज्ञान सम्बन्धी कर्मों से मनुष्य लोक, चन्द्रलोक और उस परोक्ष ब्रह्मलोक को जिसे पण्डित लोग जानते हैं क्रमशः अ, उ और म् के समुदाय "ओ३म्" की उपासना द्वारा ही प्राप्त होते हैं।

इन उपरोक्त महत्त्व युक्त प्रमाणों के अतिरिक्त अन्याऽन्य उपनिषदों, ब्राह्मण ग्रन्थों, स्मृतियों और शास्त्रों के सैकड़ों प्रसिद्ध प्रमाण हैं जो सब केवल उस ओङ्कार स्वरूप प्रभु की उपासना के लिये ही आबाल वृद्ध वनिता को आदेश देते हैं। यथा 'ओं खं ब्रह्म":—

अवतीत्योम् रक्षा करने वाला है इसलिये उस ब्रह्म का नाम "ओ३म्" है, आकाश में व्यापक होने से "खम्", सबसे बड़ा होने के कारण "ब्रह्म" ईश्वर का नाम है।

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत् ॥ छान्दोग्य उ० मं० १ ॥

जिसका नाम ओम् है, और जो कभी नष्ट नहीं होता, उसी की उपासना करने योग्य है।

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम् ॥ म० । म० १ ॥

सब वेदादि शास्त्रों में परमेश्वर का प्रधान और निज नाम ओम् है। अन्य सब गौण हैं।

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥

क्योंकि सब वेद सत्य धर्मानुष्ठान रूप श्रवण जिसका कथन और मान करते हैं जिसकी प्राप्ति के लिये ब्रह्मचर्याश्रम का पालन करते है, उसका नाम ओ३म् है।

अतः पाठक गण स्वयं विचार करें कि किस प्रकार वेद और शास्त्रों में ब्राह्मणग्रन्थ एवं उपनिषदों में तथा स्मृतियों में इस पवित्र ब्रह्म वाच्य ओङ्कार की सूक्ष्म बुद्धया महिया गायी गई है।

संसार में जितनी भी भाषायें हैं उन सब भाषाओं के अक्षर बिना अ की सहायता के नहीं बोले जा सकते, फिर उन भाषाओं में कितने ही ऐसे अक्षर भी हैं जिनका उच्चारण अत्यन्त कठिनता से होता है, और कितने ही मनुष्य ऐसे भी हैं जिनसे आजीवन भी वे अक्षर उच्चारित नहीं हो पाते। इङ्गलैण्ड के रहने वालों से यदि विशुद्ध "ख" अक्षर का उच्चारण करवावें तो वे नहीं कर सकते, इङ्गलैण्ड के

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

पड़ोसी फ्रांस से यदि "ट ठ ड ढ ण" इस टवर्ग का उच्चारण करावें, तो वे कहेंगे कि हम किस विपत्ति में पड़ गये। किन्हीं महानुभावों से विशुद्ध "र" अक्षर का उच्चारण नहीं हो सकता, कोई "श" "ष" "स" का उच्चारण नहीं कर सकते। बंग भाषाभाषी महानुभाव "क्ष" अक्षर नहीं बोल सकते। इस प्रकार भिन्न २ देशों के भिन्न २ भाषाओं के अभ्यासी भिन्न २ अक्षरों के बोलने में अनभ्यस्त हैं। परन्तु किसी भी देश के निवासी, किसी भी भाषा के अभ्यासी व्यक्ति "अ" "उ" और "म्" इन तीन अक्षरों को बोलने में कभी द्विविधा में नहीं पड़ेंगे, अपितु प्रसन्नतापूर्वक उन्हें आसानी से बोल सकेंगे।

यह तो रही पढ़े लिखे और भिन्न २ देश के भाषाभाषियों की बात, अब उन अबोध शिशुओं की ओर भी तनिक दृष्टिपात करें, जो जन्म लेने के साथ अ, आ, आउ, उ, और "म्" "म्" आदि २ स्वरों और व्यंजनों के उच्चारण के साथ माँ की गोद में लिपटे हुए रोते हैं! तथा माता भी उस बच्चे को अँ, अँ के उच्चारण से लोरियाँ देती हुई थपथपा कर उसे चुप कर देती है। माँ और बच्चों की इस स्वाभाविक "ओ३म्" शब्द की पवित्र प्रणाली को किसी ने भी निर्माण नहीं किया और न ही किसी ने शिक्षा ही दी अपितु स्वभावतः ही उनके मुख से इस ओङ्कार के अक्षरों का उच्चारण, न केवल आज से अपितु सृष्टि के आदि काल से ही होता चला आ रहा है। बच्चों के अतिरिक्त उन गूंगों और बहरों से भी पूछ देखिये, वे भी इन अक्षरों के अतिरिक्त किसी भी अक्षर को सरलतापूर्वक उच्चारण करने में अपने को असमर्थ पाते हैं। इस प्रकार संसार की जितनी भी भाषायें हैं उनमें "अ" "उ" और "म्" ये तीन अक्षर ही ऐसे सरल और उपयुक्त मिलेंगे जिनका विशुद्ध उच्चारण सहज ही सब कर सकते हैं।

इङ्गलिश भाषा में ईश्वर को God (गॉड) कहते हैं परन्तु अरब के निवासी God शब्द का अच्छी प्रकार उच्चारण नहीं कर सकते क्योंकि अरबी भाषा में "ग" और "ड" का सर्वथा अभाव है। ठीक इसके विपरीत अँग्रेज या फ्रैंच लोग "खुदा" शब्द का उच्चारण नहीं कर सकते। हिन्दू समाज में प्रभु के अर्थ में प्रयुक्त प्रसिद्ध "राम" शब्द को भी सब नहीं बोल सकते। इन सब बातों से प्रतीत होता है कि मानव समाज ब्रह्म के अर्थ में "ओ३म्" शब्द ही सरलतापूर्वक व्यवहार में ला सकता है।

गीता में योगिराज भगवान् श्रीकृष्ण ने इस ओङ्कार नाम की महिमा के सम्बन्ध में कितना सुन्दर लिखा है:—

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति, विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

अर्थात् जिस अक्षर को वेदवेत्ता कहते हैं, जिसमें वीतराग यति लोग प्रवेश करते हैं जिसकी इच्छा करते हुए ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं, हे अर्जुन ! उस पद को मैं तेरे लिये संक्षेप में कहता हूं । क्योंकि:—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ।।

"ओ३म्" इस एकाक्षर ब्रह्म का मरते समय, परमात्मा को स्मरण कर जो मनुष्य उच्चारण करता है, वह परमगति को प्राप्त होता है ।

इस प्रकार अनेकानेक आर्ष ग्रन्थों के वाक्य उद्धरण स्वरूप लिखे जा सकते हैं जिनसे, "ओंकार" का महत्त्व तथा "ओ३म्" अक्षरब्रह्म के ध्यान करने के निर्देश का पूर्ण परिचय मिल सकता है । इस विषय में पाठकों को प्रश्नोपनिषद् के पञ्चम प्रश्न का अध्ययन विचारपूर्वक करना चाहिये । विस्तार भय से यहां उपर्युक्त कतिपय उद्धरणों को ही पर्य्याप्त समझा जाता है ।

संसार में मानव जाति के प्राचीन धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन से भी इस बात का पता चलता है कि उस काल में परमात्मा का मुख्य नाम "ओ३म्" वा इसका कोई न कोई विकृत रूप उन धर्मावलम्बियों की भाषाओं में उपलब्ध होता है। उदाहरण के लिये इगलैण्ड द्वीप को ही लीजिये । ईसाई धर्म के प्रचार के पूर्व यहां के निवासियों का पैतृक धर्म Druidism द्रुदवाद रहा Druid द्रुद लोग प्राचीन इंगलैण्ड निवासियों के पुरोहित थे, गृहस्थों को यज्ञ कराते थे । परमात्मा के लिये जो कई शब्द उन Druids 'द्रुद' लोगों में प्रचलित रहे उनमें एक तो 'ईसर' शब्द तथा दूसरा 'ओह्म' शब्द विचारणीय हैं । इसमें तो किसी प्रकार का सन्देह नहीं कि 'ईसर' शब्द संस्कृत भाषा के 'ईश्वर' शब्द का ही एक विकृत रूप मात्र है और 'ओह्म' शब्द के विषय में निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि यह शब्द "ओ३म्" का ही दूसरा रूप है ।

ईसाई तथा यहूदी धर्मावलम्बी बाइबल (Bible) को अपना माननीय धर्म-ग्रन्थ समझते हैं, बाइबल में "आमेन" Amen शब्द का प्रयोग कतिपय स्थानों पर हुआ है । यह "आमेन" शब्द "ओमन्" शब्द ही का एक विकृत रूप है और "ओ३म्" तथा "आमेन" शब्द दोनों ही समानार्थक हैं । "ओ३म्" शब्द परमात्मा वाचक भी है तथा स्वीकारोक्ति भी है । "आमेन" Amen शब्द भी परमात्मा वाचक तथा स्वीकारोक्ति में प्रयुक्त होता है । प्रमाणस्वरूप देखो बाइबल की अन्तिम पुस्तक "प्रकाशित वाक्य" Revelation अध्याय ३, आयत १४:—

And unto the angel of the Church of the Liodicans write; These things sayeth the Amen.

अर्थात् :—

और लाइयोदिकिया की मण्डली के दूत के पास लिख आमेन इन बातों को कहता है ।

स्पष्ट है कि यहां "आमेन" शब्द परमात्मा वाचक है, और इस में भाषा-विज्ञान के पण्डितों का मतभेद भी नहीं हो सकता कि "आमेन", शब्द "ओमन्" शब्द ही का रूपान्तर है । बाइबल की "Psalm" अर्थात् "स्तोत्र संहिता" नामक पुस्तक में आया है:—

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

Blessed be the Lord God of Israel from everlasting to everlasting and let all the people say, Amen Praise ye the Lord.

अर्थात्:—

धन्य है इसराईल का परमेश्वर यहोवा अनादिकाल से वह धन्य ही है और अनन्त काल लों भी रहेगा और सारी प्रजा कहै "आमेन" याहू की स्तुति करो। स्तोत्र संहिता १०६-१४

इसी "आमेन" शब्द का विकृत रूप अरबी भाषा में "आमीन" शब्द है। मुसलमान लोग प्रार्थना की आयतों को पढ़कर "आमीन" शब्द का उच्चारण करते हैं। अर्बी भाषा में "आमीन" शब्द की व्युत्पत्ति "अमन" वा "अमान" धातु से की जाती है और "अमन" वा "अमान" का अर्थ निर्भय बना देना वा सुरक्षित कर देना है। इसी धातु से "मोमिन" शब्द बना है और अर्बी में यह परमात्मा का एक नाम है (देखो अर्बी लुगात सुराह) "ओ३म्" शब्द का भी अर्थ रक्षा करने वाला है अतः मोमिन और ओ३म् समानार्थक शब्द हैं। "आमीन" शब्द भी स्वीकारोक्ति में ओ३म् के सदृश अर्बी में प्रयुक्त होता है।

उपर्युक्त समस्त शास्त्रीय प्रमाणों तथा तार्किक युक्तियों द्वारा इस बात का सम्यक् प्रकारेण स्पष्टीकरण हो गया कि जगन्नियन्ता प्रभु परमात्मा का मुख्य नाम ओ३म् है जो अन्यान्य नामों की अपेक्षा सरलतर तथा व्यापक है अतः प्रत्येक स्त्री पुरुष आबाल वृद्ध विद्वान् तथा अविद्वान् व्यक्तियों को चाहिये कि सदा ओ३म् नाम के द्वारा प्रभु का चिन्तन किया करें, तथा प्रत्येक शुभ कार्य का अनुष्ठान ओ३म् के उच्चारण तथा ध्यानपूर्वक किया करें जैसा कि भगवान् कृष्ण ने गीता में अर्जुन को उपदेश देते हुए कहा है:—

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञ दान तपः क्रियाः।
प्रवर्त्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रवादिनाम्॥ गी० १७।२४

अर्थात् इस हेतु ब्रह्मवादियों अर्थात् वेदतत्त्व विशारद पुरुषों की शास्त्रोक्त यज्ञ, दान तथा तप की क्रियायें ओ३म् शब्द के उच्चारणपूर्वक ही हुआ करती हैं।

इस श्लोक पर भाष्य करते हुए स्वामी रामानुजाचार्य ने लिखा है:—

तस्माद् ब्रह्मवादिनां वेदवादिनां त्रैवर्णिकानां यज्ञ दान तपः क्रिया विधानोक्ताः आदौ "ओ३म्" इति उदाहृत्य सततं सर्वदा प्रवर्त्तन्ते॥

अर्थात् इसलिये ब्रह्मवादी, वेदपाठी ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों की वेद में विधान की हुई यज्ञ, दान और तपरूपी सारी क्रियायें सदा पहले 'ॐ' इस शब्द का उच्चारण करके आरम्भ की जाती हैं।

परमात्मा के नामस्मरण करने में किसी व्यक्ति के लिये प्रतिबन्ध नहीं है, स्त्री हो पुरुष हो चाहे किसी भी वर्ण का हो; परमात्मा के ध्यान तथा चिन्तन से परमोत्तम गति को प्राप्त कर जाते हैं।

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

योग-साधना कैसे करें ?

श्री प्रभाकर, समाज कल्याण, पो० मलकाना कलां, वाया केसरीसिंहपुर, श्रीगंगानगर (राजस्थान), की जिज्ञासा का समाधान।

जन-ज्ञान मासिक पत्र के द्वारा आप का पत्र मुझे मिल गया था। उसका उत्तर भी मैंने आप के भेजे जवाबी कार्ड पर सूचना रूप में आप की सेवा में भेज दिया था। आशा है, आप को प्राप्त हो चुका होगा। उस के अनुसार विस्तृत लेख भेजने का यत्न करता हूँ जो कि "जन-ज्ञान" में प्रकाशित होने से अन्य हजारों जिज्ञासुओं को पढ़ने और मनन करने से लाभ हो सकेगा।

पहले मैं सरल मार्ग से चलना चाहता हूं। इससे कठिनता न होगी और मुख्य मार्ग पर हम चल सकेंगे।

(१) महर्षि दयानन्द रचित सत्यार्थप्रकाश का सप्तम समुल्लास

(क) इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारिव्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ।। न्याय दर्शन १-१-४

"यह गोतम महर्षिकृत न्याय दर्शन का सूत्र है जो श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, घ्राण और मन का शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सुख, दुःख, सत्यासत्य आदि विषयों के साथ सम्बन्ध होने से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसको प्रत्यक्ष कहते हैं परन्तु वह निर्भ्रम हो। अब विचारना चाहिये कि इन्द्रियों और मन से गुणों का प्रत्यक्ष होता है गुणी का नहीं जैसे चारों त्वचा आदि इन्द्रियों से स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का ज्ञान होने से गुणी जो पृथिवी उसका आत्मा युक्त मन से प्रत्यक्ष किया जाता है, वैसे इस प्रत्यक्ष सृष्टि में रचना विशेष आदि ज्ञानादि गुणों के प्रत्यक्ष होने से परमेश्वर का भी प्रत्यक्ष है और जब आत्मा मन और मन इन्द्रियों को किसी विषय में लगाना या चोरी आदि बुरी या परोपकार आदि अच्छी बात करने का जिस क्षण में आरम्भ करता है, उस समय जीव की इच्छा ज्ञानादि उसी इच्छित विषय पर झुक जाती है। उसी क्षण में आत्मा के

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

भीतर से बुरे काम करने में भय, शंका और लज्जा तथा अच्छे कामों के करने में अभय, नि:शंकता और आनन्दोत्साह उठता है वह जीवात्मा की ओर से नहीं किन्तु परमात्मा की ओर से है और जीवात्मा शुद्ध हो के परमात्मा का विचार करने में तत्पर रहता है उसको उसी समय दोनों प्रत्यक्ष होते हैं। अर्थात् जीव और ईश्वर।

(२) येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम् । येन यज्ञस्तायते सप्त होता तन्मे मनः शिव सङ्कल्पमस्तु ॥

यजुर्वेद अध्याय ३४, मन्त्र ६

हे जगदीश्वर ! जिस से सब योगी लोग इन सब भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान व्यवहारों को जानते जो नाश रहित जीवात्मा को परमात्मा के साथ मिल के सप्र प्रकार त्रिकालज्ञ करता है जिस में ज्ञान क्रिया है पांच ज्ञानेन्द्रिय बुद्धि और आत्मा युक्त रहता है उस योगरूप यज्ञ को जिससे बढ़ाते हैं वह मेरा मन योग विज्ञानयुक्त होकर अविद्यादि क्लेशों से पृथक रहे।

(३) उपासना—समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत् । न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयन्तदन्तः करणेन गृह्यते ॥

यह उपनिषद् का वचन है जिस पुरुष के समाधि योग से अविद्यादि मल नष्ट हो गये हैं आत्मस्थ होकर परमात्मा में चित्त जिसने लगाया है उसको जो परमात्मा के योग का सुख होता है वह वाणी से कहा नहीं जा सकता क्योंकि उस आनन्द को जीवात्मा अपने अन्त:करण से ग्रहण करता है। उपासना का अर्थ समीप होना है। अष्टांग योग से परमात्मा के समीपस्थ होने और उसको सर्वव्यापी सर्वान्तर्यामी रूप से प्रत्यक्ष करने के लिये जो जो काम करना होता है वह वह सब करना चाहिये अर्थात्

तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ।

योग शा० साधनपादे । सू० ३० ॥

इत्यादि सूत्र पातञ्जल योग शास्त्र के हैं। जो उपासना का आरम्भ करना चाहे उसके लिये यही आरम्भ है कि वह किसी से वैर न रक्खे, सर्वदा सब से प्रीति करे, सत्य बोले, मिथ्या कभी न बोले, चोरी न करे, सत्य व्यवहार करे, जितेन्द्रिय हो, लम्पट न हो और निरभिमानी हो अभिमान कभी न करे, ये पांच प्रकार के यम मिल के उपासना योग का प्रथम अंग हैं।

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥

योग शा० साधनपादे । सू० ३२

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

रागद्वेष छोड़ भीतर और जलादि से बाहर पवित्र रहे। धर्म से पुरुषार्थ करने से लाभ में न प्रसन्नता और हानि में न अप्रसन्नता करे प्रसन्न होकर आलस्य छोड़ सदा पुरुषार्थ किया करे, सदा सुख दुःखों का सहन और धर्म ही का अनुष्ठान करे अधर्म का नहीं, सदा सत्य शास्त्रों को पढ़े पढ़ावे सत्पुरुषों का संग करे और "ओ३म्" इस एक परमात्मा के नाम के अर्थ विचार कर नित्य प्रातः जप किया करे अपने आत्मा को परमेश्वर की आज्ञानुकूल समर्पित कर देवे। इन पांच प्रकार के नियमों को मिला के उपासना योग का दूसरा अङ्ग कहाता है। इसके आगे छः अंग योग शास्त्र वा ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में देख लेवें। जब उपासना करना चाहें तब एकान्त शुद्ध देश में जाकर आसन लगा प्रणायाम कर बाह्य विषयों से इन्द्रियों को रोक मन को नाभि प्रदेश में वा हृदय, कण्ठ, नेत्र, शिखा अथवा पीठ के मध्य हाड़ में किसी स्थान पर स्थिर कर अपने आत्मा और परमात्मा का विवेचन करके परमात्मा में मग्न हो जाने से संयमी होवे। जब इन साधनों को करता है तब उसका आत्मा और अन्तः-करण पवित्र होकर सत्य से पूर्ण हो जाता है नित्यप्रति ज्ञान विज्ञान बढ़ा कर मुक्ति तक पहुंच जाता है जो आठ पहर में एक घड़ी भर भी इस प्रकार ध्यान करता है वह सदा उन्नति को प्राप्त हो जाता है। "समाधि दशा में जब योगी को परमेश्वर प्रत्यक्ष होता है तब वह कहता है कि वह जो मेरे में व्यापक है **वही ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है।**"

सत्यार्थ प्रकाश तृतीय समुल्लास। (प्राणायाम)

(८) योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः।

योग० साधनपादे सू० २८।

जब मनुष्य प्राणायाम करता है तब प्रतिक्षण उत्तरोत्तर काल में अशुद्धि का नाश और ज्ञान का प्रकाश होता जाता है, जब तक मुक्ति न हो तब तक उसका ज्ञान बराबर बढ़ता जाता है।

प्रच्छर्दन विधारणाभ्यां वा प्राणस्य।।

योग० समाधिपादे सूत्र ३४।।

जैसे अत्यन्त वेग से वमन होकर अन्न जल बाहर निकल जाता है वैसे प्राण को बल से बाहर फेंक के बाहर ही यथाशक्ति रोक देवे जब बाहर निकालना चाहे तब मूलेन्द्रिय (गुदा) को ऊपर खींच रक्खे तब तक प्राण बाहर रहता है। इसी प्रकार प्राण बाहर अधिक ठहर सकता है जब घबराहट हो तब धीरे-धीरे भीतर वायु को लेके फिर भी वैसा ही करता

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

जाय जितना सामर्थ्य और इच्छा हो। और मन में (ओ३म्) इसका जप करता जाय। इस प्रकार करने से आत्मा और मन की स्थिरता होती है। एक "बाह्य विषय" अर्थात् बाहर ही अधिक रोकना। दूसरा "आभ्यन्तर" अर्थात् भीतर जितना प्राण रोका जाय उतना रोक के। तीसरा "स्तम्भ वृत्ति" अर्थात् एक ही बार जहां का तहां प्राण को यथा-शक्ति रोक देना। चौथा "बाह्याभ्यन्तर विक्षेपी" अब जब प्राण भीतर से बाहर निकलने लगे तब उसको विरुद्ध न निकलने देने के लिये बाहर से भीतर ले जब बाहर से भीतर आने लगे तब भीतर से बाहर की ओर धक्का देकर रोकता जाय। ऐसे एक दूसरे के विरुद्ध क्रिया करे तो दोनों की गति रुक कर (सूक्ष्म गति) प्राण अपने वश में हो जाने से मन और इन्द्रिय भी स्वाधीन होते हैं। यह ध्यान रखना चाहिये कि प्रणायाम में हाथ से नाक को न पकड़े। बल पुरुषार्थ बढ़ कर बुद्धि तीव्र सूक्ष्मरूप हो जाती है कि जो बहुत कठिन और सूक्ष्म विषय को शीघ्र ग्रहण करती है। इससे मनुष्य के शरीर में वीर्य वृद्धि को प्राप्त होकर स्थिर बल पराक्रम जितेन्द्रियता सब शास्त्रों को थोड़े ही काल में समझ कर उपस्थित कर लेगा। इसी प्रकार योगाभ्यास करें।" इससे परमात्मा जीव को प्रत्यक्ष हो जाता है।

इति सत्यार्थप्रकाश योगोपासना प्रकरणम्।

ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका

उपासना विषय :

—उपनिषद् प्रमाण—

(१) नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥

कठोपनिषद् अ० १। बल्ली २। मन्त्र २४

भाषार्थ—यह उपासना योग दुष्ट मनुष्य को सिद्ध नहीं होता क्योंकि (नाविरतो०) जब तक मनुष्य दुष्ट कर्मों से अलग होकर अपने मन को शान्त और आत्मा को पुरुषार्थी नहीं करता, तथा भीतर के व्यवहारों को शुद्ध नहीं करता, तब तक कितना ही पढ़े वा सुने उसको परमेश्वर की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती।

(२) तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्य्यां चरन्तः।
सूर्य्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा॥

—मुण्डकोपनिषद्, खण्ड २, मन्त्र ११

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

भापार्थ—(तप: श्रद्धे०) जो मनुष्य धर्माचरण से परमेश्वर और उसकी आज्ञा में अत्यन्त प्रेम करके अरण्य अर्थात् शुद्ध हृदय रूपी वन में स्थिरता के साथ निवास करते हैं वे परमेश्वर के समीप वास करते हैं। जो लोग अधर्म के छोड़ने और धर्म करने में दृढ़ तथा वेदादि सत्यविद्याओं में विद्वान् हैं, जो भिक्षाचर्य्य आदि कर्म करके संन्यास वा किसी अन्य आश्रम में हैं, इस प्रकार के गुण वाले मनुष्य (सूर्य्यद्वारेण०) प्राणद्वार से परमेश्वर के सत्य राज्य में प्रवेश करके (विरजा:) अर्थात् सब दोषों से छूट के परमानन्द मोक्ष को प्राप्त होते हैं जहाँ कि पूर्ण पुरुष, सब में भरपूर, सब से सूक्ष्म, (अमृत:) अर्थात् अविनाशी और जिस में हानि, लाभ कभी नहीं होता ऐसे परमेश्वर को प्राप्त होके सदा आनन्द में रहते हैं। जिस समय इन सब साधनों से परमेश्वर की उपासना करके उसमें प्रवेश किया चाहें उस समय इस रीति से करें कि—

(३) अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वावविजिज्ञासितव्यमिति ।।

छान्दोग्योपनिषद् प्रपाठक ८। खण्ड ११। मन्त्र० १ ।।

भाषार्थ—(अथ यदिद०) कण्ठ के नीचे दोनों स्तनों के बीच में और उदर के ऊपर जो हृदय देश है, जिस को ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं, उसके बीच में जो गर्त है उसमें कमल के आकार का वेश्म अर्थात् अवकाशरूप एक स्थान है और उस के बीच में जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा बाहर भीतर एक रस होकर भर रहा है, वह आनन्दस्वरूप परमेश्वर उसी प्रकाशित स्थान के बीच खोज करने से मिल जाता है। दूसरा उसके मिलने का कोई उत्तम स्थान वा मार्ग नहीं।

[विशेष—यहां मन्त्र के अन्तिम वाक्य में महर्षि दयानन्द ऐसा लिखते हैं कि परमेश्वर खोज करने से मिल जाता है दूसरा उसके मिलने का कोई उत्तम स्थान या मार्ग नहीं है।]

इस वचन से पता चलता है कि महर्षि दयानन्द ने उस स्थान पर खोज करके परमेश्वर को साक्षात् प्राप्त कर लिया था। यदि उनको ईश्वर की प्राप्ति नहीं हुई होती, तो वह लिखते कि खोज करने से मिल सकता है। [चूंकि महर्षि पूर्ण योगी थे, अत: वह परमेश्वर के परमानन्द-स्वरूप मोक्ष को प्राप्त कर चुके थे।]

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में वेदोक्त उपासना विषय

**(१) युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः ।
विहोत्रा दधे वयुना विदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥**

—ऋग्वेद अष्टक ४। अध्याय ४, वर्ग २४, मन्त्र १

भाषार्थ—अब ईश्वर की उपासना का विषय जैसा वेदों में लिखा है उसमें से संक्षेप से यहाँ भी लिखा जाता है। (युञ्जते मन०) इसका अभिप्राय यह है कि जीव को परमेश्वर की उपासना नित्य करनी उचित है। अर्थात् उपासना विषय में सब मनुष्य अपने मन को उसी में स्थिर करें। और जो लोग ईश्वर के उपासक (विप्राः) अर्थात् बड़े-बड़े बुद्धिमान् (होत्राः) उपासना योग के ग्रहण करने वाले हैं, वे (विप्रस्य) सबको जानने वाला, (बृहतः) सब से बड़ा (विपश्चितः) और सब विद्याओं से युक्त जो परमेश्वर है, उसके बीच में (मनः) (युञ्जते) अपने मन को ठीक-ठीक युक्त करते हैं, तथा (उत०) (धियः) अपनी बुद्धिवृत्ति अर्थात् ज्ञान को भी (युञ्जते०) सदा परमेश्वर ही में स्थिर करते हैं। जो परमेश्वर इस सब जगत् को (विदधे०) धारण और विधान करता है। (वयुना विदेक इत्) जो सब जीवों के ज्ञानों तथा प्रजा का भी साक्षी है, वही एक परमात्मा सर्वत्र व्यापक है, कि जिससे परे कोई उत्तम पदार्थ नहीं है। (देवस्य) उस देव अर्थात् सब जगत् के प्रकाश और (सवितुः) सब की रचना करने वाले परमेश्वर की (परिष्टुतिः) हम लोग सब प्रकार से स्तुति करें। कैसी वह स्तुति है कि (मही) सब से बड़ी अर्थात् कि जिसके समान किसी दूसरे की हो ही नहीं सकती।

**(२) युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियम् ।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत् ॥**

—यजुर्वेद अध्याय ११, मन्त्र १

भाषार्थ—(युञ्जानः) योग को करने वाले मनुष्य (तत्त्वाय) तत्त्व अर्थात् ब्रह्मज्ञान के लिये (प्रथमम्) (मनः) जब अपने मन को पहिले परमेश्वर में युक्त करते हैं तब (सविता) परमेश्वर उनकी (धियम्) बुद्धि को अपनी कृपा से अपने में युक्त कर लेता है। (अग्नेर्ज्योतिः) फिर वे परमेश्वर के प्रकाश को निश्चय करके (अध्याभरत्) यथावत् धारण करते हैं। (पृथिव्याः) पृथिवी के बीच में योगी का यही प्रसिद्ध लक्षण है।

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

(३) सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथक् ।
धीरा देवेषु सुम्नयः ॥

—यजुर्वेद, अध्याय १२, मन्त्र ६७ ।

भाषार्थ—(कवयः) जो विद्वान् योगी लोग और (धीराः) ध्यान करने वाले हैं वे (सीरा युञ्जन्ति) (पृथक्) यथा योग्य विभाग से नाड़ियों में अपने आत्मा से परमेश्वर को धारण करते हैं। (युगा) जो योगयुक्त कर्मों में तत्पर रहते हैं। (वितन्वते) अपने ज्ञान और आनन्द को सदा विस्तृत करते हैं (देवेषु सुम्नया) वे विद्वानों के बीच में प्रशंसित हो के परमानन्द को प्राप्त होते हैं।

महर्षि पतञ्जलि रचित योगशास्त्र

इस शास्त्र पर व्यास मुनि का भाष्य, श्रीवाचस्पति मिश्रकृत व्याख्या तथा भोजवृत्ति संस्कृत में हैं। भोजवृत्ति पृथक् पुस्तक है, इस पर रुद्रदत्त संस्कृत टीका है। इन पुस्तकों के मँगाने के लिए सर्व श्री मोतीलाल बनारसीदास पुस्तक विक्रेता, बंगला रोड, जवाहर नगर, दिल्ली, को लिखना चाहिये। इसके मालिक श्री सुन्दरलाल जैन हैं। इस पुस्तक को पढ़ने के लिये किसी दार्शनिक योगाभ्यासी से सहयोग लेना आवश्यक है।

योग शास्त्र में ४ पाद हैं। (१) समाधिपाद, (२) साधनपाद, (३)विभूति पाद और(४)कैवल्य पाद। योग दर्शन में कुल मिलाकर १९५ सूत्र हैं। अर्थात् ५१+५५+५५+३४ कुल=१९५।

अवान्तर भेदों के अतिरिक्त समाधि के मुख्य दो भेद हैं सबीज और निर्बीज। साधन पाद में अनेक प्रकार के साधन कहे गये हैं। विभूति पाद में आरम्भ में ही धारणा, ध्यान और समाधि के लक्षण और स्वरूप कहे गये हैं। यहाँ अनेक प्रकार की विभूतियाँ कही गई हैं। योग के ८ अंग हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि पृथक् पृथक् होते हुए भी एक रूप हो जाते हैं। तब 'संयम' कहलाता है। यह नवाँ अंग है। यह योग दर्शन की तान्त्रिकी दार्शनिक परिभाषा कहलाती है। कैवल्य पाद में चित्त का विशेष वर्णन किया गया है और अन्तिम सूत्र में चितिशक्ति=जीव की स्वरूप में प्रतिष्ठिति कही गई है।

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

प्रत्येक पाद में अवान्तर भेद प्रतिपादित करने वाले सूत्र लिखे गये हैं।

कुछ सूत्रों की व्याख्या में विद्वान् योगियों में मत विभिन्नता भी पाई जाती है। इस शास्त्र में चित्त का बहुत महत्त्व है। चित्त जीवात्मा का अंतःकरण विभाग विशेष है। जीव को चितिशक्ति कहा गया है।

'परकायप्रवेश' में कुछ योगी दूसरे शरीर में जीव का प्रवेश करते और अन्य चित्त का प्रवेश लिखते हैं, जीव का नहीं।

एक सूत्र "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।" समाधि पाद का तीसरा है। यहां दर्शनभाष्यादि में 'द्रष्टुः' पद का अर्थ जीव है। कहते हैं कि मन की स्थिति जीव के स्वरूप में स्थित हो जाती है। परन्तु महर्षि दयानन्द इस की व्याख्या ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका और सत्यार्थ प्रकाश के नवम समुल्लास के अन्त में 'द्रष्टुः' का अर्थ सर्वज्ञ ईश्वर लिखते हैं अर्थात् उस समय जीव के मन की स्थिरता ईश्वर के स्वरूप में होती है।

विशेष निवेदन है कि जहाँ तक हमारी सामान्य बुद्धि है, तदनुसार हमने योग-दर्शन की वृत्ति का वर्णन कर दिया है। योगी विद्वान् ही उसमें प्रमाण हो सकते हैं। इति।

जगदेवसिंह सिद्धान्ती

सम्राट् प्रेस, पहाड़ी धीरज, दिल्ली-११०००६

नई.....नई.....बिल्कुल नयी

सशक्त भावभरी श्रद्धापूर्ण भाषायुक्त

महर्षि दयानन्द की जीवनी

१६ चित्र : पृष्ठ २१२
तिरंगा बढ़िया कवर : मूल्य १)५० ।

शीघ्रता कीजिए :

भारी संख्या में मंगाकर बांटें

दयानन्द संस्थान नई दिल्ली-११०००५

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

आर्य समाज शताब्दी समारोह, वाराणसी का आंखों देखा दृश्य

आर्य समाज शताब्दी समारोह, वाराणसी दिनांक २७, २८, २९ फरवरी, ७६ को सम्पन्न हुआ। इच्छा न रहते हुए तथा निमन्त्रण न मिलने पर भी अपना कार्य समझ कर समारोह में सम्मिलित हुआ। जो दृश्य कानपुर व दिल्ली में था वह वाराणसी में न था। एक तो प्रकृति अनुकूल न थी; भीषण शीत, दिन में धूलि का उड़ना मेले को उखाड़ने वाला सिद्ध हुआ। उपस्थिति भी अच्छी नहीं होती थी। डी. ए. वी. कालेज के प्रांगण में समारोह मनाया जा रहा था, पर मैदान में आर्य जनता कम दिखाई देती थी। कभी २ पंडाल में सन्ध्या समय भीड़ हो जाती थी। यज्ञशाला का दृश्य उत्तम था। पुस्तकों की कई दुकानें थीं, पर बिक्री नाममात्र की थी। दुकानदार हाथ पर हाथ रखे बैठे रहते थे। उनकी तो दुकानों का किराया निकालना भी कठिन हो गया। वैदिक यन्त्रालय के तीन चार पुस्तकों के पार्सल ही अन्तिम दिन तक नहीं पहुंचे। हाँ, "जन-ज्ञान" के स्टाल में भीड़ रहती थी।

यद्यपि यहाँ कई सम्मेलन किए गए पर सब में राजनैतिक व्यक्तियों और मंत्रियों को ही विशेष रूप से बुलाया गया। समारोहों में विद्वानों को कोई पूछता तक नहीं है। वेद सम्मेलन के अध्यक्ष श्री डा० स्वामी सत्यप्रकाश जी थे। उनका भाषण अत्यन्त आपत्तिजनक है। स्वामी जी महाराज विज्ञान के डाक्टर हैं, वेदों के विद्वान् नहीं हैं। उनका वैदिक ज्ञान नाममात्र का है। आपने मासिक पत्रिका "गंगा" के "वेदांक" में पारसी मत के पक्ष में ऋग्वेद के मंत्रों को प्रस्तुन किया है जिसकी आलोचना मैंने "वैदिक धर्म", पारडी में की थी। भविष्य में सोच समझ कर वैदिक विद्वान् ही वेद सम्मेलनों के सभापति या अध्यक्ष बनाये जायें अन्यथा विरोधियों पर विपरीत प्रभाव पड़ेगा। आशा है कि इस कटु सत्य पर आर्य प्रतिनिधि सभा, उत्तर प्रदेश के कर्णधार विचार करेंगे।

कानपुर के समान यहां पर भी भोजन सभी को नि:शुल्क देने की व्यवस्था थी। भोजन भी अच्छा ही मिलता था, पर प्रबन्ध में भीषण त्रुटि थी। पं० विजयपालजी शास्त्री ने स्वयं अनुभव किया था। द्वार बन्द कर देने से विशिष्ट व्यक्तियों की अधिक भीड़ हो जाती थी। इससे अच्छा था कि द्वार खुले रखते और सबको जाने देते, क्योंकि भीतर पर्याप्त स्थान था। जब टेबुल खाली होता तो जनता बैठकर भोजन कर लेती। दो घंटा खड़ा रहने पर भी भोजन मिलना कठिन था। भविष्य में ऐमी त्रुटि नहीं होनी चाहिए।

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

वाराणसी पौराणिकों का गढ़ माना जाता है, सम्भवतः इसीलिए सम्मेलन फीका ही रहा।

स्वामी सत्यप्रकाश जी के भाषण पर पाठक ध्यान देने की कृपा करें—

"यास्क का निरुक्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते हुए भी इस दिशा में छोटा सा कुछ कुछ अधूरा सा प्रयास था।" (पृष्ठ ९ पंक्ति १६)

क्या यास्क का निरुक्त अधूरा सा प्रयास है ?

"महर्षि दयानन्द का वेदभाष्य इस दिशा में छोटा सा संकेतमय प्रयास है।" (पृष्ठ ११ पंक्ति ११)

क्या त्रिविध प्रक्रियानुसार महर्षि दयानन्द जी का वेदभाष्य छोटा सा संकेतमय प्रयास है ? क्या आर्य जगत् की यही मान्यता है ?

"आर्य समाज चारों वेदों को एक वेद मानता है।" (पृष्ठ ११ पंक्ति २१)

यहाँ 'एक' से क्या तात्पर्य है यह स्पष्ट नहीं होता है। 'एक' को हटा कर 'ही' कर दिया जाये तो आर्य समाज का सिद्धान्त उचित प्रतीत होगा।

"यह बात अवश्य है कि वेदों का संहितीकरण बाद में हुआ—अलग-अलग पद्धतियों पर भी किया गया। यह संहितीकरण मानव है, ऋषियों के पुरुषार्थ का फल है।" (पृष्ठ ११ पंक्ति २४)

क्या वेदों का 'संहितीकरण' बाद में हुआ ? आप इस पर जोर डालते हुए 'अवश्य' का प्रयोग करते हैं।

आर्य समाज तो वेदों के दो भाग "संहिता और ब्राह्मण" मानता है। संहिता भाग ही ईश्वरीय वाणी है और 'ब्राह्मण ग्रन्थ' ऋषियों की कृतियाँ व वेदों के व्याख्या भाग हैं।

महर्षि दयानन्द जी सरस्वती "सत्यार्थ प्रकाश" सप्तम समुल्लास में स्पष्ट लिखते हैं, प्रश्न—वेद किन ग्रन्थों का नाम है ?

उत्तर - ऋक्, यजुः, साम और अथर्व मंत्र संहिताओं का, अन्य का नहीं।

जब महर्षि दयानन्द जी का स्पष्ट मत यह है तो "बाद में संहितीकरण" का लिखना क्या उचित है ? 'संहितीकरण' का सिद्धान्त तो पौराणिकों का है। उनका कथन है कि वेदों का वर्गीकरण व्यास जी ने किया इसलिए वे 'वेदव्यास' कहलाए। सीधी बात न कह कर पौराणिक सिद्धान्त को आर्यसमाज पर द्राविड़ी प्राणायाम द्वारा स्वामी सत्यप्रकाश जी थोपना चाहते हैं जिसका स्पष्ट खण्डन महर्षि दयानन्द जी महाराज "सत्यार्थप्रकाश" एकादश समुल्लास में करते हैं - जो कोई यह कहते हैं कि वेदों को व्यास जी ने इकट्ठे किए यह बात झूठी है।"

अत: आर्य प्रतिनिधि सभा के कर्णधारों को सोचना चाहिए।

—शिवपूजनसिंह, कानपुर

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

वैदिक शिक्षा दर्शन

—डा० कपिलदेव द्विवेदी
अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, का० न० राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
ज्ञानपुर (वाराणसी)

शिक्षा का उद्देश्य—

वैदिक काल से आज तक शिक्षा विषय पर गहन मनन हुआ है। वैदिक महर्षियों ने ही नहीं, अपितु वर्तमान शिक्षाशास्त्रियों ने भी इस विषय पर गहन मनन और चिन्तन किया है। शिक्षा ही जीवन का वह महत्त्वपूर्ण अंग है, जो बाल्यकाल से लेकर वृद्धावस्था तक मनुष्य को अनुशासित, संयत, प्रगतिशील और विकासोन्मुख बनाये रखता है। शिक्षा जीवन का सर्वांगीण विकास करती है। वही आध्यातिमक, नैतिक, बौद्धिक, मानसिक और चारित्रिक गुणों का सतत विकास करते हुए जीवन को सर्वात्मना पूर्ण और विकास-युक्त करती है। वेदों, उपनिषदों तथा अन्य शास्त्रीय ग्रन्थों में शिक्षा का उद्देश्य बताया गया है कि वह बुद्धि को सन्मार्गगामी करें। शिक्षा मानव को तेजस्विता प्रदान करे। अथर्ववेद के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य है—

व्यक्ति की बुद्धि को तीक्ष्ण करना, उसे उत्तम शिक्षा के द्वारा उन्नत करना, उसके जीवन को प्रकाशित करना तथा प्रबुद्ध करना, उसे प्रगति की ओर ले जाते हुए सभी प्रकार के सौभाग्य से युक्त करना।

बृहस्पते सवितर्वर्धयेनं ज्योतयैनं महते सौभगाय। संशितं चित् संतरं सं शिशाधि विश्व एनमनु मदन्तु देवा: ।। अथर्व० ७-१६-१

शिक्षा का उद्देश्य है कि वह जीवन को सुख और शांति से युक्त करे तथा उसको मधुर बनाये। शिवा नः शंतमा भव सुमृड़ीका सरस्वती।
मा ते युयोम संदृशः ।। अथर्व ७-६८-३

शिक्षा मनुष्य को शांति देने वाली हो, मन को पवित्र करने वाली हो, सद् विचारों को पुष्ट करने वाली हो और जीवन में शक्ति प्रदान करे।

यस्ते स्तनः शशयुर्यो मयोभूर्यो सुम्नयुः सुहवो यः सुदत्रः।
येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमहि धातवे कः ।। अथर्व० ७-१० १

शिक्षा मानव में तेजस्विता का आधान करती है। अतएव शिक्षा के साथ ही प्राचीन शिक्षा पद्धति में ब्रह्मचर्य और संयम पर बहुत बल दिया गया है।
सरस्वत्या उरुव्यचे विधेम हविषा वयम्। अथर्व० ६-४१-२

आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते। अथर्व ११-५-१८

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

अतएव निरुक्त के रचयिता यास्क ने निरुक्त में आचार्य का लक्षण देते हुए आचार एवं संयम की शिक्षा देने वाले को आचार्य कहा है :—

आचार्यः कस्मात् ? आचार्यः आचारं ग्राहयति ।
आचिनोत्यर्थान् । आचिनोति बुद्धिमिति वा । निरुक्त १-४

शिक्षा का उद्देश्य यह भी है कि वह मानव में कर्मठता और स्फूर्ति का संचार करे, जिससे मनुष्य उत्साहपूर्वक जीवन यात्रा को सुखद बना सके। जीवन की यही कर्मठता मानव-जीवन में सौभाग्य और समृद्धि का संचार करती है।

अप्नस्वती मम धीरस्तु शक्र वसुविदं भगमिन्द्रा भरा नः ।
अथर्व० १०-८९-३

आचार्य का कर्तव्य है कि वह विद्यार्थियों में मन की पवित्रता का भाव जागृत करे और साथ ही शिक्षा के प्रति ऐसी रुचि उद्बुद्ध करे जिससे शिक्षा मानव के अन्तस्तल तक प्रविष्ट हो और एक प्रबुद्ध सहयोगी का काम दे। इसके लिए वेद का आदेश है कि आचार्य और विद्यार्थी दोनों में संयम का भाव उच्चकोटि का हो।

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह ।
वसोष्पते नि रमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम् । अथर्व० १-१-२
वाचस्पतिर्नियुच्छतु मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ।। १-१-३

शिक्षा जीवन में सुमति देती है और इस सुमति से ही संसार में प्रतिष्ठा होती है।

संविदाना दिवा कवे श्रियां मा धेहि भूत्याम् ।। अथर्व० १२-१-६३

शिक्षा का उद्देश्य है कि वह विद्या और बुद्धि का समन्वय करे। इन दोनों के समन्वय से ही जीवन में सुख की वास्तविकता प्राप्त होती है।

शं सरस्वती सह धीभिरस्तु । अथर्व० १९-११-२

शिक्षा के द्वारा मानव जीवन में नीर-क्षीर-विवेक का गुण जागृत होना चाहिए, जिससे वह बुद्धि के द्वारा दुर्गुणों को छोड़े और सद्गुणों को ग्रहण करे।

उपश्वसे द्रुवये सीदता यूयं वि विच्यध्वं यज्ञियासस्तुषैः । अथर्व० ११-१-१२

यह सुसंस्कृत बुद्धि ही मानव की आजीवन सुरक्षा करती है। अतएव महाभारत में कहा गया है कि देवता जिसकी रक्षा करना चाहते हैं, उसको सुबुद्धि दे देते हैं।

धिये समश्विना प्रावतं० अथर्व० ६-४-३
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु । यजु० ३२-१४

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

न देवा यष्टिमादाय रक्षन्ति पशुपालवत् ।
यं तु रक्षितुमिच्छिन्ति बुद्ध्या संयोजयन्ति तम् ॥ महाभारत

शिक्षा का महत्त्व

ऋग्वेद में वाग्देवी का महत्त्व बताते हुए कहा गया है कि वह तेजस्विता प्रदान करती है। राष्ट्र और मानव में वही सद्भाव का संचार करती है और सर्वोच्च आदर की पात्र है। विद्वान् और सर्वसाधारण उसी का आश्रय लेते हैं। वही मनुष्य को ऋषि, महर्षि, मेधावी और तेजस्वी बनाती है।

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् ।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्यात्रां भूर्यविशयन्तीम् ॥

ऋग् १०-१२५-३

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः ।
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं सुमेधाम् ॥

१०-१२५-५

अथर्ववेद में शिक्षा की उपयोगिता बताते हुए कहा गया है कि शिक्षा से मनन शक्ति, चेतना, सद्बुद्धि, विचारशीलता, ज्ञानोपलब्धि तथा व्यापक दर्शन की शक्ति प्राप्त होती है। शिक्षा ही जीवन में माधुर्य का संचार करती है।

मनसे चेतसे धिय आकूतय उत चित्तये ।
मत्यै श्रुताय चक्षसे विधेम हविषा वयम् अथर्व० ६-४१-१
इमानि त उदिता शंतमानि तेभिर्वयं मधुमन्तः स्याम ॥ अथर्व० ७-६८-२

भारतीय विद्वानों ने शिक्षा का लक्ष्य मुख्यतया अमरत्व बताया है। (सा विद्या या विमुक्तये, विद्ययाऽमृतमश्नुते)। साथ ही व्यावहारिक पक्ष की उपेक्षा न करते हुए धन के प्रभुत्व का उपदेश दिया गया है। महाभारत में संसार के ६ गुणों में अर्थ-प्राप्ति को प्रथम स्थान दिया गया है।

वयं स्याम पतयो रयीणाम् । ऋग् १०-१२१-१०
अर्थागमो नित्यमरोगिता च, प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च ।
वश्यच पुत्रोऽर्थकरी च विद्या, षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन् ॥

महाभारत

संस्कृत के प्रसिद्ध श्लोक विद्या ददाति विनयम्० में विद्या से सुशीलता, योग्यता, धन और सुख की प्राप्ति बताई गई है। अथर्ववेद के उपर्युक्त उद्धरणों से ज्ञात होता है कि शिक्षा के द्वारा ही श्रद्धा, मेधा, प्रजा, धन, आयु तथा अमरत्व की प्राप्ति होती है। अतएव प्राचीन पद्धति में शिक्षा का लक्ष्य बताया गया है कि शिक्षा के द्वारा छात्रों में पवित्रता और धर्म की भावना जागृत की जाए। साथ

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

ही चरित्र निर्माण, व्यक्तित्व का विकास, नागरिक और सामाजिक कर्तव्य की भावना जागृत करना, सामाजिक समुन्नति और राष्ट्रीय संस्कृति के विस्तार का भाव विकसित करना।

शिक्षा की विधि

प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार शिक्षा का प्रारम्भ ५ या ६ वर्ष तक की आयु से हो जाता था। शिक्षा का इच्छुक बालक गुरु की सेवा में उपस्थित होता था। वह उसके आचार विचार और योग्यता की परीक्षा करके उसे शिक्षा ग्रहण के योग्य घोषित करता था और उसकी प्रवृत्ति के अनुसार उसे विभिन्न शास्त्रीय शिक्षाएं दी जाती थीं। प्राचीन समय में इस शिक्षा पद्धति को गुरुकुलीय शिक्षा पद्धति कहते थे। इसमें आचार्य और शिष्य का निकटतम सम्बन्ध होता था। आचार्य के समीप रहने के कारण विद्यार्थी को अन्तेवासी कहते थे। आचार्य विद्यार्थी का पुत्रवत् पालन करते हुए उसे ब्रह्मचर्य, संयम, तप, त्याग और आत्मिक उन्नति की शिक्षा देता था। गुरुकुलीय जीवन में ब्रह्मचर्य, आचार-शुद्धि और उच्च विचार को अत्यन्त महत्त्व दिया जाता था। अतएव अथर्ववेद में कहा गया है :—

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः॥
अथर्व० ११-५-३

ब्रह्मचारी समिधा यज्ञ, दृढ़निश्चय या कटिबद्धता, परिश्रम और तपस्या का आश्रय लेते हुए लोकाभ्युदय के लिए तैयार होता था। अतएव अथर्ववेद में कहा गया है—

ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति अथर्व० ११-५-४

तैत्तिरीयोपनिषद् में शिक्षाध्याय में आचार्य को पूर्वरूप, अन्तेवासी को उत्तर रूप, विद्या को सन्धि और प्रवचन को संधान कहा गया है।

आचार्यः पूर्वरूपम्। अन्तेवासी उत्तररूपम्।
विद्या सन्धिः। प्रवचनं संधानम्। तैत्ति० १-३-२

इसका अभिप्राय यह है कि आचार्य और विद्यार्थी को जोड़ने वाला तत्त्व प्रवचन है और विद्या ही दोनों को सम्बद्ध करती है। अतएव गुरु और शिष्य का सम्बन्ध भौतिक न रह कर आत्मिक हो जाता है।

प्राचीन शिक्षा पद्धति में आचार, संयम और अनुशासन के महत्त्व के कारण छात्रों में अनुशासन की समस्या उत्पन्न नहीं होती थी। गुरु अपने आचार-विचार के द्वारा छात्रों को प्रभावित करता था। छात्र उसकी योग्यता का लाभ उठाते थे

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

और आध्यात्मिक प्रवृत्ति के कारण उच्च ज्ञान-प्राप्ति की प्रवृत्ति रहती थी। अतएव निरुक्त में आचार की शिक्षा देने वाले को आचार्य कहा गया है।

यास्क ने शिक्षा और शिक्षार्थी के गुण दोषों का विवेचन करते हुए कहा है कि विद्या एक बहुमूल्य निधि है। उसकी सुरक्षा अत्यन्त आवश्यक है। शिक्षा के केवल वही अधिकारी हैं जिनमें पवित्रता, ब्रह्मचर्य, अप्रमाद और जिज्ञासा के गुण हैं। जिन शिक्षार्थियों में ईर्ष्या, द्वेष हो और जिज्ञासा का अभाव हो उन्हें उच्च शिक्षा से सर्वथा वंचित रखा जाए। अतगव कहा गया है कि—

विद्या ह वै ब्राह्मणामाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहस्मि।
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती यथा स्याम्॥
यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्।
यस्ते न द्रुह्येत् कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन्॥

निरुक्त २=४=५

शिक्षा का व्यवहार पक्ष

इसमें शिक्षार्थी की सामाजिक उन्नति पर विशेष बल दिया जाता है। यदि शिक्षार्थी शारीरिक, बौद्धिक और आत्मिक एवं नैतिक गुणों से सम्पुष्ट हो जाता है तो वह जीवन के सभी संघर्षों में विजयी हो सकता है। प्राचीन शिक्षापद्धति में पुरुषार्थ-चतुष्टय धर्म अर्थ काम मोक्ष को जीवन का लक्ष्य माना गया है। इसमें अर्थ से पूर्व धर्म को समाविष्ट किया गया है। इन गुणों का संग्रह करते हुए अर्थोपार्जन शिक्षा का उद्देश्य है। इस प्रकार का अर्थ धर्म से नियंत्रित होने के कारण सुख और शान्ति का आधार होता है। अतएव योगदर्शन में कहा गया है कि यह जगत् भोग और मुक्ति दोनों का साधन है। वैशेषिक दर्शन में भी लौकिक उन्नति को धर्म के अन्दर समाविष्ट किया गया है।

भोगापवर्गार्थं दृश्यम्। योगदर्शन
यतोभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः सः धर्मः। वैशेषिक दर्शन

लौकिक उन्नति का साधन धन है और मोक्ष की प्राप्ति का साधन धर्म है। इस प्रकार धर्म और अर्थ मिला कर दोनों लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं। धन के बिना धर्म अपूर्ण है और धर्म के बिना धन। इन दोनों का जब तक समन्वय नहीं होगा, तब तक मानव जीवन के लक्ष्य की पूर्ति सम्भव नहीं है।

———

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

इतिहास के पृष्ठ —'इतिहास प्रेमी'

फूनान को बसाने वाला पं० कौण्डिन्य

पुरातत्ववेत्ताओं एवं इतिहासकारों के अनुसार दक्षिण-पूर्वी एशिया के अधिकतर राजवंश अपना सम्बन्ध कौण्डिन्य से जोड़ते थे। अतएव यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि कौण्डिन्य थे कौन ? पण्डित कौण्डिन्य का सबसे पहले एक चीनी यात्री कांङ्ताई ने लिखित रूप में उल्लेख किया था। इस चीनी पर्यटक ने २४५-२५० ई० तक हिन्दचीन (इण्डो-चायना) के विभिन्न अचंलों का भ्रमण किया था। चीनियों की उस समय की जानकारी के अनुसार उन दिनों दक्षिण-पूर्वी एशिया का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साम्राज्य था फूनान। इस साम्राज्य के अन्तर्गत दक्षिणी ब्रह्म देश (बर्मा), मलय प्रायद्वीप एवं हिन्द चीन का अधिकांश क्षेत्र सम्मिलित था। इस साम्राज्य के अधीन जो अनेक राज्य थे, उन्हीं में से एक था चेन=लाभी। इसी न बाद में खमेर साम्राज्य का रूप ग्रहण किया, जिसका मूल था भारतवंशीय।

दक्षिणी पूर्वी एशिया में प्रचलित मान्यता के अनुसार महाभारत काल के सुप्रसिद्ध आचार्य द्रोण अथवा द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा के वंशज ही थे पंडित कौण्डिन्य। उल्लेखनीय है कि दक्षिणी भारत के पल्लव सम्राट भी स्वयं को अश्वत्थामा का वशंज ही घोषित करते थे। उनका दावा था कि पल्लव वंश के आदि पुरुष अश्वत्थामा एवं मादिनी नामक एक अप्सरा के पुत्र थे। जनश्रुति यह भी है कि पल्लवों में छिपा दिए जाने के परिणाम स्वरूप ही उनका नाम 'पल्लव' पड़ा था।

इन्हीं पल्लवों द्वारा दक्षिण भारत में समुद्र पर्यन्त एक साम्राज्य का गठन किया गया था और उन्होंने कांची को अपनी राजधानी बनाया था। दक्षिणी पूर्वी

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

एशिया के देशों के साथ पल्लव सम्राटों का घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध था। दक्षिणी भारत में ब्राह्मणों का एक वर्ग था जो स्वयं को कौण्डिन्य गोत्रीय बताया था।

सुप्रसिद्ध इतिहासकार श्री नीलकंठ शास्त्री के अनुसार पहली अथवा दूसरी शताब्दी की एक तमिल कविता में कौण्डिन्य नामक किसी ब्राह्मण की सम्पूर्ण जीवन गाथा का वर्णन किया गया था और उसमें यह भी बताया गया था कि कौण्डिन्य नामक यह ब्राह्मण तंजौर नामक ग्राम का निवासी था।

दक्षिणी भारत के पल्लव सम्राटों का सम्बन्ध दक्षिण पूर्वी एशिया की एक जनश्रुति से भी सम्बन्ध जुड़ता है। जनश्रुति यह है कि हिन्द चीन तथा हिन्देशिया (इण्डोनेसिया) में जो भी राजा महाराजा हुए वे सभी राज्यभिषेक के उपरांत अपने नाम के साथ 'वर्मन्' की उपाधि धारण किया करते थे; उदाहणतः यशोवर्मन, जयवर्मन, एवं मूल वर्मन आदि। इसी प्रकार की पद्धति दक्षिणी भारत के प्राचीन पल्लव सम्राटों में भी प्रचलित रही थी।

उसके अतिरिक्त इसी कड़ी कों जोड़ने वाला एक अन्य तथ्य यह भी है कि दक्षिण पूर्वी एशिया में प्राप्त अधिकतर शिलालेख भी पल्लव लिपि और शैली में ही लिखित हैं। ये सभी तथ्य इस बात की साक्षी प्रस्तुत करते हैं कि दक्षिण-पूर्वी एशिया की सभ्यता तथा संस्कृति का मूल पंडित कौण्डिन्य ही थे और वे पल्लव वंशी थे। इन्हीं कौण्डिन्य के वंशजों ने विभिन्न कालों में दक्षिण-पूर्वी एशिया के विभिन्न प्रदेशों एवं देशों में अपनी कीर्ति पताका फहरा कर अपनी सत्ता की स्थापना की थी।

इतिहास के ग्रन्थ इस तथ्य का भी स्मरण दिलाते हैं कि आज भी दक्षिण-पूर्वी एशिया में जो धार्मिक प्रथाएँ प्रचलित हैं तथा वहाँ की जो सभ्यता एवम् संस्कृति है, उन पर बौद्धमत की अपेक्षा ब्राह्मण धर्म का प्रभाव ही अधिक प्रभावी ढंग से परिलक्षित होता है।

उपरोक्त प्रमाणों से यह सुस्पष्ट है कि भारतीय पंडित कौण्डिन्य ने ही दक्षिणी-पूर्वी एशिया में आर्य संस्कृति तथा सभ्यता का सूत्रपात कर वहाँ के निवासियों को एक नवीन आलोक प्रदान किया था और उन्हीं के वंशजों ने वहाँ अपने सुव्यवस्थित राज्य स्थापित कर भव्य भारत भूमि की यशोगाथा के प्रति वहाँ के निवासियों को अनुरक्त किया था।

———

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

वेद भक्त ऋषि दयानन्द के अनुयायियों को

वेद-प्रचार-यज्ञ का आवाहन

एक लाख परिवारों में प्रभु की

अमर वाणी

चारों वेदों का हिन्दी भाष्य

पहुँचाने का संल्कप पूरा कीजिए

आश्चर्यजनक ...... सस्ता नाम मात्र के मूल्य पर

नया जनता संस्करण : दो सुनहरी जिल्द में

रियायती मूल्य १५१)

साथ में १०१) का साहित्य मुफ्त

इतना सस्ता : इतना आकर्षक और श्रद्धापूर्ण प्रकाशन आपके अपने दयानन्द संस्थान की गौरवपूर्ण परम्परा है।

१५५०० परिवारों में पुस्तकालय संस्करण

४ सुनहरी जिल्दों में पहुँच चुका है

वेदवाणी गुंजाने में आपके सहयोग की इच्छुक

पंडिता राकेश रानी प्रधानमंत्री दयानन्द संस्थान वेद मंदिर

३१ नाई वाला करौल बाग, नई दिल्ली-५

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

 ——वचनेश

सृजन का दुर्भाग्य !

प्रकृति की लीला भी है बड़ी विचित्र। तोड़-फोड़ एवं विध्वंस की घटनाएं लोगों की दृष्टि एवं चर्चा का विषय बनती हैं, समाचारपत्रों में भी मोटे-मोटे शीर्षकों में प्रकाशित की जाती हैं, जब कि रचनात्मक प्रयासों एवं गतिविधियों को सामान्यत: देख कर भी अनदेखी कर देने की प्रवृत्ति ही सामान्यत: प्रभावी रहती है। कोई भी विधायक एवं भावात्मक क्रियाकलाप जनसाधारण से लेकर स्वयं को अन्वेषी मेधा के धनी मानने वालों तक की दृष्टि में यदा कदा ही अपेक्षित महत्त्व प्राप्त कर पाने में सफल होती है। न जाने स्वयं को प्रबुद्ध समझने वाला कोई भी इतने छिछले धरातल पर ही क्यों घूमता रहता है। अनेक बार मानस पटल पर यह प्रश्न उभरता है कि ऐसा क्यों होता है ?

आत्मचिंतन के क्षणों में जब प्रकृति की इस लीला के सम्बन्ध में विचार करता हूं तो लगता है कि यह अस्वाभाविक नहीं अपितु स्वाभाविक सा ही है। हम देखते हैं कि निसर्ग में सृजन की प्रक्रिया सतत गतिमान रहती है। उसमें लाभान्वित भी सभी होते है किन्तु कितने ऐसे सुधीजन है। जिनका ध्यान उस विकास प्रक्रिया एवं सृजन की ओर आकृष्ट होता है।

वृक्ष का विकास भी तो इसी स्थिति का द्योतक है। अंकुर पनपता है, पादप का रूप धारण करता है, पल्लवित होता है, उसमें कोपलों के उपरांत टहनियां और शाखाएं फूटती हैं और वह वृक्ष का रूप एवं वृहद् आकार ग्रहण कर लेता है। किन्तु क्या कभी किसी ने अंकुर से वृक्ष बनने तक की इस प्रक्रिया में कोई आवाज सुनी है। निसर्ग द्वारा ही सृजन की यह प्रक्रिया चलती है किन्तु सर्वथा मौन ही रहता है उसका स्वर। परन्तु यदि कोई उस वृक्ष का विनाश करने लगता है तो उसमें आवाज होती है, उसका मूक स्वर सहसा ही मुखरित हो उठता है और फिर लोगों को यह अनुभूति होती है कि कुछ हो रहा है। यदि वही अंकुर से विकसित हुआ वृक्ष किसी प्रचंड अन्धड़ अथवा तूफान या किसी अन्य प्राकृतिक उत्पादन के परिणामस्वरूप टूट कर गिर पड़ता है तो स्वर और भी अधिक प्रबल होता है। अधिकाधिक लोगों में वह चर्चा का विषय बन जाता है। किन्तु उस स्थिति में उसके विकास क्रम की चर्चा कोई नहीं करता। कारण सम्भवतः यही है कि विकास की वह प्रक्रिया ध्वनिरिहत होती है। किया भी क्या जाय ! यही तो है सृजन का दुर्भाग्य कि किसी को उसका पाता तक नहीं लग पाता! किसी का ध्यान उसकी ओर आकृष्ट तक नहीं हो पाता।

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

खुशहाली के लिए २० कदम

जनता के लिए राहत काल : समाज विरोधियों के लिए विपत्काल

प्रधानमन्त्री का २०=सूत्री कार्यक्रम सामाजिक क्रान्ति का आह्वान है : शानदार भविष्य की ओर बढ़ता कदम है। दिल्ली में इस दौरान हुई प्रगति एक चमत्कार है।

कीमतें गिरीं

आवश्यक वस्तुओं के मूल्यों में गिरावट। आदर्श सार्वजनिक वितरण प्रणाली लागू। जमाखोरों और काला धंधा करने वालों के विरुद्ध ६२७८ छापे। मूल्य-रोकथाम के लिए १६७ पञ्चायती और ६६ मोहल्ला समितियां। २२५ शहरी और ग्रामीण सहकारी समितियों द्वारा सस्ते जनता कपड़े की बिक्री।

बेघरों के लिए घर : भूमिहीनों के लिए भूमि

एक ही दिन में (१४ जुलाई) ८६१ ग्रामीण भूमिहीनों को जमीन। ५००० एकड़ और जमीन बांटने की योजना। ७७८ लोगों को मकानों के लिए जमीन। ८७८६ और लोगों के लिए शीघ्र देने का कार्यक्रम। ग्रामीण क्षेत्रों में मकानों के लिये १५ लाख रुपए का अनुदान।

न्यूनतम मजदूरी बढ़ी

उद्योगों व खेती में लगे ८ लाख मजदूरों की मजदूरी में २० से ५० प्रतिशत तक की बढ़ोतरी। ३५०० से अधिक युवक उद्योगों में ऐप्रेंटिस।

छात्रों को राहत

निर्धन विद्यार्थियों के लिए मुफ्त पाठ्य पुस्तकें। ५१० स्कूलों, कालेजों में बुक-बैंक। स्कूलों में पैन्सिल-कापियां आदि सस्ते मूल्यों पर। छात्रावासों में सस्ता भोजन। स्कूलों में सुधार का १२=सूत्री जोरदार कार्यक्रम।

उत्पादन बढ़ा

हड़तालों और तालाबन्दियों की समाप्ति। उत्पादन बढ़ा। हथकरघा उद्योग की १.५० करोड़ रुपए की विकास योजना। नव उद्यमियों के लिए विशेष योजनाएँ। खेती में क्रान्ति—ग्रामीण विकास निगम की योजना—सब्जी की काश्त ४८,००० एकड़ से बढ़कर ८५,००० एकड़। गांवों में बैंक और बहु-उद्देश्य सहकारी समितियाँ। कर्ज से छुटकारा देने की व्यवस्था।

समाज विरोधियों के पांव उखड़े

बेईमान व्यापारियों के विरुद्ध ६३० छापे। छिपे व्यापार पर १० करोड़ रुपए के सैल्स टैक्स की वसूली। ५४ सरकारी कर्मचारी समय से पूर्व रिटायर। कई मुअत्तल—कुछ बर्खास्त। कर्मचारियों की कार्यकुशलता, ईमानदारी पर कड़ी नजर।

सुन्दर हरी-भरी दिल्ली

दोनों समय सफाई और रात की सफाई की नयी व्यवस्था। अनधिकृत निर्माण हटे। चौड़ी सुन्दर सड़कें। दिल्ली में ५ लाख नये पौधे।

गौरवशाली कीर्तिमान

ये गौरवशाली कीर्तिमान स्थापित किये आपने अर्थात् दिल्ली की जनता ने सिर्फ ५ महीने में। आपके साथ कदम मिलाकर चल रहा है— दिल्ली प्रशासन : आपका प्रशासन।

आइए! प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी के इस महान् कार्यक्रम में सहायक और साझीदार बनें।

सूचना एवं प्रचार निदेशालय, दिल्ली द्वारा प्रसारित

"आज की पुकार : स्वदेशी का व्यवहार : विदेशी का बहिष्कार।"

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

—प्रिंसिपल लक्ष्मीदत्त दीक्षित

आर्यसमाज के कर्णधारों के विचारार्थ

हमारी समस्याएँ

विचारों के लिए संपादक उत्तरदायी नहीं

सार्वदेशिक स्तर पर आर्य समाज शताब्दी समारोह सम्पन्न हो गया। प्रादेशिक स्तर पर भी यत्र-तत्र-सर्वत्र इसी प्रकार कई समारोह हुए और आगे भी होने हैं। भीड़-भाड़ की दृष्टि से सभी समारोह अत्यधिक सफल रहे। किन्तु गम्भीर चिन्तन का अभाव रहा। अपने सुदूर अतीत पर हम जितना भी गर्व करें थोड़ा है। किन्तु आसन्न भूत और वर्तमान से आँखें मीच लेने का अर्थ होगा कि हम भविष्य में न रहने का निश्चय कर चुके हैं। डुगडुगी बजाकर भीड़ इकट्ठी कर लेना और तमाशा दिखाकर ताली बजवा लेना कोई बड़ी बात नहीं है। किन्तु ऐसा करके हम अपने अहम् को भले ही तुष्ट कर लें, किसी ठोस उपलब्धि की आशा नहीं कर सकते। आवश्यकता थी और आज भी है कि कहीं एकान्त में बैठकर हम अपनी सही स्थिति का मूल्यांकन करें और अपनी समस्याओं का समाधान खोजें। एतदर्थ विद्वद्भि: सेवित: सद्भि: नित्यमद्वेषरागिभि:—मनु की इस उक्ति के अनुसार विशुद्ध धार्मिक पुरुषों का सहयोग अपेक्षित है।

(१) **वेदों के प्रति श्रद्धा**—हम समझते थे कि जैसे-जैसे लोग वेदों को जानेंगे वैसे-वैसे बुद्धिजीवी वर्ग में उनके प्रति श्रद्धा बढ़ेगी। किन्तु वस्तु स्थिति इसके सर्वथा विपरीत है। बौद्धिक स्तर पर सर्वत्र वे व्यक्ति छाये हुए हैं जिन्होंने भारतीय विश्वविद्यालयों में संस्कृत में एम. ए. करते समय ही वेदों की झलक देखी है। संस्कृत पढ़ाने वाले प्राध्यापक स्वयं सायणादि पौराणिक एवं पूर्वाग्रहों से युक्त पाश्चात्य विद्वानों के दृष्टिकोण से प्रभावित हैं। वेदों का जो स्वरूप इन छात्रों के सामने आता है उसे देखने के बाद वेद अपौरुषेय और सब सत्य विद्याओं के ग्रन्थ न रहकर साधारण लोगों द्वारा रचित किस्से-कहानियों की पुस्तकें रह जाती हैं। उनमें मांस, मदिरा और जुए का विधान है। जादू टोना है। गोवध का उल्लेख है और यम यमी सूक्त के रूप में भाई बहनों के यौन सम्बन्धों की चर्चा है। इन विश्वविद्यालयों में (वर्तमान में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय सहित) संस्कृत के अतिरिक्त इतिहास में एम. ए. करने वाले छात्रों को वैदिक कालीन इतिहास के प्रसंग में भी यही सब-कुछ पढ़ाया जाता है। वे पढ़ते हैं कि यहाँ के आदिवासी कोई और हैं, आर्य लोग तो बाहर से आकर यहाँ के आदिवासियों से लड़ाइयों में जीत कर यहाँ बस गए हैं। वेदों में राम, कृष्ण, अर्जुन, धृतराष्ट्र, सीता, द्रौपदी आदि का उल्लेख होने से स्पष्ट है कि वेदों की रचना रामायण और महाभारत के बाद हुई है। संस्कृत और इतिहास में एम. ए. करने वाले ये छात्र अध्यापक बन कर स्कूलों और कालिजों में अपने छात्रों को वही सब कुछ पढ़ाते हैं जो वे पढ़कर आये हैं। इस प्रकार शिक्षित वर्ग

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

वेदों के इसी स्वरूप को जानता और मानता है। इसे देख सुनकर उसके मन में वेद के प्रति विरक्ति एवं घृणा के भाव ही उत्पन्न होते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि—

(क) आर्य समाज के एतदर्थ समर्पित उच्चकोटि के विद्वान् आर्य समाज के उत्सवादि का मोह छोड़कर विश्वविद्यालयों व कालिजों को अपना केन्द्र बनायें और वहां अध्यापन कार्य में लगे संस्कृत तथा इतिहास विभाग के अध्यापकों से सम्पर्क स्थापित कर वेदों के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण ठीक करें। उनके दिमाग बदल जायें तो कालान्तर में सारा सिलसिला बदल जायेगा।

(ख) पौराणिक विद्वानों के साथ मिलकर वेद सम्बन्धी गोष्ठियों का आयोजन किया जाए जिनमें प्रेम पूर्वक वार्त्तालाप द्वारा पक्ष-विपक्ष में विचार विमर्श करके उन्हें अपने पक्ष में लाने का प्रयत्न हो। सार्वजनिक रूप में शास्त्रार्थ के समय अहम् के कारण हठ और दुराग्रह सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में बाधक बन जाते हैं।

वेदों का यथार्थ स्वरूप—वेदों के जिस प्रचलित रूप की चर्चा ऊपर की गई है उसके परिचायक अनेक ग्रन्थ विश्व की अनेक भाषाओं में मिलते हैं। अधिकृत (?) विद्वानों द्वारा लिखित अथवा सम्पादित तथा अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित ये ग्रन्थ भारत में ही नहीं दुनिया भर के विश्वविद्यालयों एवं कालिजों के पुस्तकालयों में मिलेंगे। ऐसा ही एक ग्रन्थ कुछ वर्ष पूर्व Vedic Age के नाम से प्रकाशित हुआ था। उसके उत्तर में आर्य समाज की ओर से 'वेदों का यथार्थ स्वरूप' नाम से एक अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण ग्रंथ प्रकाशित हुआ। Vedic Age को देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों के संस्कृत तथा इतिहास विभागों के लब्धप्रतिष्ठ लगभग सौ विद्वानों द्वारा तैयार कराया गया था। इसके प्रकाशन के साथ डा० राधाकृष्णन्, क० मा० मुन्शी, जस्टिस टेक चन्द, घनश्याम दास बिड़ला आदि विख्यात शिक्षाशास्त्रियों और विद्वान् नेताओं के नाम जुड़े थे। विश्वविख्यात इतिहासवेत्ता आर. सी. मजुमदार इसके प्रधान सम्पादक थे। इस प्रकार अपनी महत्ता के कारण यह ग्रन्थ दुनिया भर के विश्वविद्यालयों और कालिजों के पुस्तकालयों में स्थान पा गया। पं. धर्मदेव जी विद्यामार्तण्ड लिखित 'वेदों का यथार्थ स्वरूप' प्रामाणिक होते हुए भी आर्य समाज मन्दिरों से आगे न जा सका। जिन हाथों में 'वैदिक एज' गया उन हाथों में उसका उत्तर पक्ष नहीं पहुँचा। उसे वे ही पढ़ पाये जो पहले से ही वैसा मानते थे। आवश्यकता इस बात की है कि हमारी मान्यताओं के पोषक ग्रन्थों का लेखन तथा प्रकाशन सुविचारित योजना के अधीन इस प्रकार कराया जाये कि उनकी पहुंच स्वत: सब कहीं हो सके।

वेदों का महत्त्व—'कालेनानवच्छेदात् पूर्वेषामपि गुरुः' परमेश्वर ने आदि सृष्टि में वेदों का ज्ञान इस लिए दिया कि मनुष्य बिना सिखाये कुछ सीख नहीं सकता था। इसीलिए हमारी मान्यता रही है कि वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। ज्ञान विज्ञान की ऐसी कोई बात नहीं जो बीज रूप में वेदों में न हो। किन्तु १०० वर्ष बीत जाने पर भी दुनिया को हम अपनी बात का विश्वास नहीं करा पाये। जब तक वर्तमान में वैज्ञानिकों द्वारा लिखे गये ग्रन्थों के समान वेद और वेदानुकूल ग्रन्थों के आधार पर एक-एक विद्या का सांगोपांग और क्रमबद्ध विवेचन प्रस्तुत नहीं

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

किया जाता तब तक हमारी स्थापना को संसार में मान्यता नहीं मिल सकती और यदि हम ऐसा करके दिखा दें तो वेदों की महत्ता पर भाषण देने की आवश्यकता नहीं रहेगी। दुनिया अपने आप वेद की कायल हो जायेगी। आवश्यकता इस बात की है कि हम कम से कम २० विद्वान् ऐसे बनायें जो सभी संस्कृत के तो पूर्ण विद्वान हों ही उनमें से प्रत्येक एक-एक विद्या का पारंगत विद्वान् हो। प्रत्येक को वेदों में से एक-एक विद्या की खोज करके क्रमबद्ध विवेचन करते हुए स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखने का काम सौंपा जाये। ऐसे व्यक्तियों को इतना वेतन दिया जाये जितना उन्हें और कहीं न मिल सके जिससे वे सर्वात्मना अपने को इस कार्य में लगाये रखें।

धार्मिक अन्ध विश्वास—पहले एक समय में ईश्वर का एक अवतार होता था। अब एक साथ ८० किसी किसी के अनुसार २०० भगवान् विचर रहे हैं। पहले ईश्वर का आरोप करके मूर्ति की पूजा होती थी। अब मनुष्यों की मूर्तियों और समाधियों पर उसी तरह फूल चढ़ाये जा रहे हैं। विदेशियों तक को भारत की धरती पर कदम रखते ही गांधी जी की समाधि पर फूल चढ़ाने पड़ते हैं। स्वतंत्रता दिवस या गणतंत्र दिवस के समारोहों का श्रीगणेश प्रातः काल नेताओं द्वारा गांधी जी आदि की समाधि की पूजा के साथ होता है—नवग्रह पूजन की तरह। पहले परिवार के लोग अपने सम्बन्धियों की भस्मी हरिद्वार में जा कर प्रवाहित कर आते थे। अब यह कार्य जलसे जलूसों के साथ स्पेशल गाड़ियाँ चला चला कर होता है। पहले जो काम जनता करती थी अब वे सरकार की ओर से किये जा रहे हैं और धार्मिक अन्ध-विश्वासों को बढ़ावा देने के लिए सरकारी खजाने से करोड़ों रुपये खर्च किये जा रहे हैं। देश के बड़े से बड़े नेता अपने अन्धविश्वासों का खुला प्रदर्शन करके सर्वसाधारण को वैसा करने की प्रेरणा दे रहे हैं। राष्ट्रपति और बड़े-बड़े मन्त्री फलित ज्योतिष के ग्रंथों का विमोचन और उसमें अनुसन्धान की आवश्यकता पर बल देते हुए जोरदार शब्दों में उसका समर्थन और प्रचार कर रहे हैं। जनता के मार्ग दर्शन का दम भरने और प्रगतिशील होने का दावा करने वाले बड़े-बड़े दैनिक, साप्ताहिक एवं मासिक पत्र (सभी भाषाओं में करोड़ों की संख्या में छपकर) राशिफल और भविष्य फल छाप-छाप कर फलित ज्योतिष में लोगों की श्रद्धा बढ़ा रहे हैं। तथाकथित आर्यसमाजी अखबार भी इस काम में दूसरों से पीछे नहीं हैं। रेडियो के द्वारा मूर्ति पूजा, अवतारवाद, रासलीला आदि का धुआंधार प्रचार हो रहा है। शायद ही कोई ऐसी फिल्म बनती हो जिससे अवतारवाद और मूर्ति पूजा को प्रोत्साहन न मिलता हो। पौराणिक फिल्में तो बनती ही इसलिए हैं। और आज यह सब आर्य समाज के होते हुए हो रहा है। हमारे उत्सवों में आर्यसमाज के सदस्य भी सबके सब नहीं पहुंचते। किन्तु रेडियो और सिनेमा को प्रतिदिन करोड़ों लोग देखते सुनते और उससे प्रभावित होते हैं। इस दृष्टि से हमारा प्रचार तो आटे में नमक के बराबर भी नहीं है। आवश्यकता है कि हम अपनी प्रचार प्रणाली पर व्यापक दृष्टि से विचार करें और आवश्यक साधनोपायों को अपनायें। राजनीतिक क्षेत्र में प्रभावशाली हमारे नेताओं का कर्तव्य है कि वे अन्ध विश्वासों के प्रचार एवं प्रसार में सरकारी साधनों के प्रयोग को रोकने का प्रयत्न करें।

हमारी शिक्षण संस्थायें—विदेशी शासन क जमाने में हमारी संस्थायें राष्ट्रवाद की पनीरी का काम देती थीं। उनमें पढ़ने पढ़ाने वालों पर आर्य समाज की छाप होती थी। किन्तु अब उनका कोई उपयोग नजर नहीं आता। इतना ही नहीं कि वे आर्य समाज के सिद्धान्तों या उसकी मान्यताओं के प्रचार में सहायक नहीं रहीं

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

बल्कि सामान्य चरित्र और अनुशासन की दृष्टि से भी उनमें कोई विशेषता नहीं दीख पड़ती। हमारे स्कूलों-कालिजों के प्रिंसिपलों और मुख्याध्यापकों में भी अब शायद ही कोई आर्य समाजी भावना के व्यक्ति हों। यदि कोई दिखाई भी देते हैं तो केवल इसलिए और उस दिन तक जब तक वे कुर्सी पर बैठे हैं। उनके अन्दर आर्य समाज कहीं नहीं। संस्था के संचालन का कार्य वे बड़ी कुशलता और तत्परता से करते हैं किन्तु सिद्धान्त, व्यवहार, आचार-विचार, रहन-सहन आदि की दृष्टि से उनमें और दूसरी संस्थाओं के आचार्यों में कोई विशेष अन्तर नहीं मिलेगा। फिर अध्यापकों का तो कहना ही क्या ? उनमें से अधिकतर धूम्रपान, मद्यपान और मांसाहार से परहेज नहीं करते। आर्य समाज मन्दिर में तो वे १० वर्ष में एक बार भी नहीं गए होंगे, किन्तु सिनेमाघर में वे हर तीसरे दिन सपरिवार मिल सकते हैं। धर्म शिक्षा की बात अब प्राय: कहीं सुनने में नहीं आती। अब यह व्यावहारिक भी नहीं जान पड़ता। नये वेतन स्तर लागू होने के बाद से प्रिंसिपलों व प्रोफेसरों की नियुक्ति का अधिकार भी संचालकों के हाथ से छिन गया है। नियुक्ति के बाद तो किसी को न पहले कुछ कहा जा सकता था और न भविष्य में कुछ कहा या किया जा सकेगा। हमारी शिक्षण संस्थाओं में और दूसरी शिक्षण संस्थाओं में अब नाममात्र का अन्तर रह गया है और यह नाममात्र हमें बहुत मंहगा पड़ रहा है। आर्य समाजों या प्रान्तीय सभाओं, में बड़े पैमाने पर होने वाले झगड़ों के मूल में उनके अधीनस्थ स्कूल कालिज ही मिलेंगे। इन संस्थाओं के कारण अनेक अवांछनीय तत्वों के साथ समझौते करने पड़ते हैं। अपूज्यास्तत्र पूज्यन्ते पूज्यानान्तु व्यतिक्रम: भी करना पड़ता है। नैतिकता की दृष्टि से हेय काम करने पड़ते हैं। यत्र तत्र जाने अनजाने प्राय: संस्था के हित में हिसाब किताब में गड़बड़ी या हेराफेरी की बातें भी देखने सुनने में आती हैं। गुरुकुलों में भी अब वह बात नहीं रही। वहाँ भी अब आदर्श तो ढूंढ़े नहीं मिलते। पहले दूर-दूर से लोग गुरुकुल कांगड़ी देखने और उससे प्रेरणा लेने आते थे। अब उल्टी गंगा बहने लगी है। स्वयं गुरुकुल के उच्चाधिकारी गुरुकुल में अपेक्षित सुधार करने के उद्देश्य से अन्य संस्थाओं का अध्ययन करने जाने लगे हैं। देश के संविधान, सरकारी नीति, जनता की मनोवृत्ति, शिक्षा विभाग के नियंत्रण, नित नये बढ़ते हुए व्ययभार और हमारी अपनी कमजोरियों के कारण अब किसी प्रकार का सुधार सम्भव नहीं होगा। ऐसी अवस्था में अब इन संस्थाओं का मोह त्याग कर आर्य समाज को इनसे परे हट जाने की बात सोचनी चाहिये।

आर्यों का राज्य—हम प्राचीन काल में आर्यों के आदर्श एवं चक्रवर्ती राज्य पर गर्व करते हैं और फिर से वे दिन लाने के लिए आर्यसमाज को सामूहिक रूप से राजनीति में घसीटने की बात करते हैं। किन्तु जितनी कुछ सत्ता आर्यों के हाथ में है उसके सहारे क्या हम ऐसा कुछ करके दिखा पाये हैं जिससे लोगों को हमारे बारे में औरों से अच्छी राय बनाने का आधार मिल सके। जो अपने सीमित क्षेत्र में स्थानीय आर्य समाजों, अपने प्रान्तीय एवं सार्वदेशिक संगठनों और तदधीन संस्थाओं का संचालन नहीं कर पा रहे और इस निमित्त आपस में सिर फुटौवल कर आयेदिन अदालतों में खड़े रहते हैं उनके हाथ में शासन तन्त्र सौंपकर देश निश्चिन्त हो जायेगा—यह कोई कैसे विश्वास करेगा ? कभी श्री हरविलास शारदा और श्री घनश्याम सिंह गुप्त ने अपने व्यक्तिगत प्रभाव से ऐसे कानून बनवाने में सफलता प्राप्त की थी जो आर्यसमाज के सिद्धान्तों के पोषक थे। आज राजनीति में डूबे हमारे नेता इतना भी नहीं कर पा रहे। कहा जाता है कि वर्तमान में हरयाणा

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

प्रान्त में आर्यों का राज्य है क्योंकि यहाँ के मुख्य मन्त्री और आधे के लगभग मन्त्री और विधायक आर्यसमाजी हैं। हरयाणा हर दृष्टि से अत्यधिक उन्नत प्रदेश है। किन्तु क्या वहाँ एक भी बात ऐसी है जिससे उसमें आर्यसमाज के प्रभाव या उसकी विशेषता का परिचय मिलता हो। और कुछ नहीं तो कम से कम मांसाहार, धूम्रपान, मद्यपान, जुआ, अनमेल विवाह, पर्दा प्रथा, अश्लीलता, हिंसा एवं अन्धविश्वासों को बढ़ावा देने वाली फिल्मों के प्रदर्शन आदि पर पूरी तरह रोक लगाने वाले कानून बन गये होते और अपराधों की रोकथाम के लिये मनुस्मृति के अनुसार कठोर दण्ड की व्यवस्था हो जाती, प्रतिदिन यज्ञ करने वाले सरकारी कर्मचारियों को विशेष प्रोत्साहन दिया जाता, जन्म से वर्ण व्यवस्था मानने को अपराध घोषित कर दिया जाता, दान पुण्य, गंगा स्नान आदि के द्वारा पापों से निवृत्ति का प्रचार कर भ्रष्टाचार को बढ़ावा देने वाले, सूर्य और चन्द्रग्रहण के वैज्ञानिक आधार के विपरीत उनके राहु-केतु द्वारा ग्रसे जाने जैसे अज्ञानमूलक तथा विज्ञान-विरोधी मिथ्या वादों का प्रचार करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया होता तो हम दुनिया से कह सकते थे कि देखो, आर्यों के हाथ में सत्ता आने से समूचा राष्ट्र ऐसा बन जायेगा जैसा हरयाणा। क्या अपनी वर्तमान स्थिति को देखते हुए वैसी कल्पना कर पाना भी हमारे लिए सम्भव है? राष्ट्र को पवित्र लोगों का नेतृत्व चाहिए—ऐसे लोगों का जिनमें स्वार्थ, पक्षपात, ईर्ष्या, द्वेष, लोभ लालच का लेश न हो और जो किसी भी प्रकार के व्यसनों से परे हों। यदि ऐसे पवित्र लोगों का नेतृत्व हम प्रदान कर सकें तो यही आर्य राज्य के निर्माण के लिए हमारा सबसे बड़ा योगदान होगा।

नया खून—आवश्यकता पड़ने पर जब किसी आदमी को खून चढ़ाया जाता है तो इस बात का ध्यान रक्खा जाता है कि चढ़ाया जाने वाला खून रोगी के खून के वर्ग का हो—उसकी प्रकृति के अनुकूल हो। विपरीत गुणों वाला खून चढ़ाये जाने पर लाभ के बदले हानि हो सकती है। आर्यसमाज में नये खून के नाम पर जिन लोगों की भरती की गई और की जा रही है वे आर्यसमाज के सिद्धान्तों और मान्यताओं से कोसों दूर हैं। उन्हें आर्यसमाज में लाने वाले लोग अपनी-अपनी स्थिति को मजबूत करने के उद्देश्य से चुनाव में हाथ खड़ा करने के लिए लाते हैं और आने वाले भी किन्हीं स्वार्थों से प्रेरित होकर आते हैं। आर्य समाज के नियमोपनियम, विधि विधान, आचार विचार, क्रियाकलाप आदि की उन्हें कोई जानकारी नहीं होती। ऐसे लोगों का मुख्य लक्ष्य राजनीतिक होता है। राजनीति में धर्म चला जाये तो राजनीति पवित्र हो जाती है किन्तु यदि धर्म में राजनीति आ जाये तो धर्म भ्रष्ट हो जाता है। आज आर्य समाज की स्थिति बहुत कुछ ऐसी ही है। बाहर से वह फलता फूलता नजर आता है किन्तु अन्दर से वह खोखला होता जा रहा है। हमारे स्थानीय, प्रान्तीय अथवा सार्वदेशिक स्तर के संगठनों की आज जो अवस्था है उसके होते हुए हम किस मुँह से दुनिया से कह सकते हैं कि आर्यसमाजी बन जाने पर तुम्हारे जीवन में पवित्रता आ जायेगी। अपने संगठन को बनाए रखने के लिए अदालतों का सहारा लेने वाला आर्यसमाज ऋग्वेद के एकता सूक्त का नारा लगाकर संसार का उपकार करने की बात कैसे कर सकता है! ऐसा कहना भी छोटा मुँह बड़ी बात होगी। आज हमारे संगठन का नेतृत्व पवित्र आचार विचार वाले वैदिक विद्वानों के हाथों से निकल कर वोट बटोरने में सिद्धहस्त, सांसारिक व्यवहार में कुशल, उछल कूद कर जनता को मोहने वाले तिकड़मी लोगों के हाथों में चला गया है। फिर 'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः' के अनुसार इतर लोगों की स्थिति

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

भिन्न कैसे हो सकती है ? आर्य समाज से राजनीति में काम करने वाले लोगों को निकाला नहीं जा सकता ? आवश्यकता इस बात की है कि उसके संगठन में प्रमुखता उन लोगों की हो जो विद्वान् हों, सात्त्विक वृत्ति वाले हों, व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक रूप में ईमानदार हों तथा चौबीसों घण्टे आर्य समाज के ही लिये हों।

हमारा संगठन—अब आर्यसमाज के प्रसार को रोक कर उसका शुद्धीकरण कर उसे संकुचित करने की आवश्यकता है। बुझे हुए सौ दिये प्रकाश नहीं दे सकते, जलता हुआ एक दिया भी मार्गदर्शन कर सकता है। समाज की इकाई व्यक्ति होता है। यदि वह ठीक नहीं है तो समाज के ठीक होने की कल्पना भी नहीं की जा सकती। आर्य समाज के दस में से पांच नियमों में सत्य का उल्लेख है। आर्यसमाज का सदस्य बनने वाला 'सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार कर करने चाहियें' को पढ़ने के बाद 'चन्दा जो मेरी आय का शतांश है—२ या ४ आने' लिख कर प्रवेश पत्र पर हस्ताक्षर कर देता है। इस प्रकार आर्य समाज में प्रवेश करते समय अधिकतर—लगभग ९८ प्रतिशत—लोग सबसे पहला काम झूठ बोलने का करते हैं। ईमानदारी से अपनी आय का शतांश चन्दे के रूप में देने वाले व्यक्ति उंगलियों पर गिने जा सकते हैं। इस प्रकार आर्यसमाज का भवन झूठ की बुनियाद पर खड़ा है। यही स्थिति साप्ताहिक सत्संगों में २५ प्रतिशत उपस्थिति की है। जिस आर्य समाज की स्थापना की शताब्दी देश विदेश में बड़ी घूमधाम से मनाई गई है, बम्बई की उस आर्यसमाज के साप्ताहिक सत्संगों में प्रायः १०-१५ से अधिक की उपस्थिति नहीं होती। गाँवों में तो ९८ प्रतिशत आर्य समाजों के साप्ताहिक सत्संग होते ही नहीं। गांव के लोगों के पास और सब कामों के लिए समय है किन्तु समाज का सत्संग एक वर्ष में तो क्या १० वर्ष में एक बार भी करने का अवसर नहीं मिलता। नियमानुसार सभासद् बनने के लिये किसी का नाम समाज के रजिस्टर में सदाचार पूर्वक दो वर्ष तक अंकित रहना जरूरी है। किन्तु अधिकतर समाजों में तो ऐसा कोई रजिस्टर ही नहीं होता। सभासदों की सूचियां इन्हीं नियमों के अनुसार तैयार होती हैं और इन्हीं सूचियों के आधार पर प्रान्तीय सभाओं और सार्वदेशिक सभा के लिए प्रतिनिधि नियुक्त होते हैं। कमियां सब कहीं हैं किन्तु अपने नियमों की जितनी छीछालेदर हमारे यहां है उतनी अन्यत्र मिलनी मुश्किल है। बहुत से सदस्यों को तो यह भी मालूम नहीं कि आर्य समाज के नियम संख्या में १० हैं। जानने या सुना सकने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। जहां तक आचार विचार का सम्बन्ध है स्थिति और भी निराशाजनक है। आर्य समाज के बाहर भी भले लोग हैं। किन्तु आज ऐसी एक भी बात नहीं जिसे लेकर हम यह कह सकें कि और कुछ हो न हो प्रत्येक आर्य समाजी में यह बात तो अवश्य मिलेगी। आर्य समाजी अध्यापकों, उपदेशकों, दुकानदारों, व्यापारियों, उद्योगपतियों, वकीलों, अफसरों, बाबुओं, विधायकों और मन्त्रियों में एक भी विशेषता वैसी नहीं मिलेगी जो उनके आर्य समाजी होने की परिचायक हो या जो उन्हें अपने ही वर्ग के आर्यसमाजेतर लोगों से अलग करती हो। आर्य समाजी और गैर-आर्य समाजी की जीवन पद्धति में किसी के आर्य समाजी होने के कारण कोई स्पष्ट अन्तर नहीं दीख पड़ेगा। कभी हमें अपने को आर्य समाजी कहने में गर्व अनुभव होता था। आज यदि लज्जा नहीं तो संकोच अवश्य होने लगा है। आवश्यकता है कि आर्य समाज के ढांचे में आमूलचूल परिवर्तन किया जावे। यदि हमारे नियमोपनियम अव्यावहारिक हैं तो उन्हें बदल दिया जाये।

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

यदि ठीक हैं तो यथासम्भव उनका पालन किया कराया जाये। संगठन के सभी स्तरों पर नलाई करके घासफूस को निकाल बाहर किया जायें ताकि काम के पौधे पनप सकें। ऐसे थोड़े से आर्य समाजियों को देखकर लोग आर्य समाज की ओर आकृष्ट हो सकते हैं और ऐसे व्यक्तियों से बना समाज अधिक सजीव और सशक्त बन सकता है। झूठ के पांव नहीं होते। उसके सहारे खड़ा किया गया संगठन देर तक नहीं चल सकेगा। आज लड़खड़ा रहा है, कल गिर जायेगा।

आर्य समाज और वैदिक धर्म—हमारा लक्ष्य वैदिक धर्म के सिद्धान्तों का प्रचार करना और उनके अनुसार मानव समाज को चलाना है। आर्य समाज स्वयं में साध्य नहीं बल्कि वैदिक धर्म के प्रचार एवं प्रसार के निमित्त साधन रूप में खड़ा किया गया संगठन या आन्दोलन है। अतः आर्य समाज का विकास उसी रूप में उचित है जिसमें वह वैदिक धर्म के विकास में सहायक हो। यही उसकी कसौटी होनी चाहिये 'क'नाम के आर्यसमाज के सदस्यों की संख्या एक वर्ष में ५० से १०० हो जाये, समाज में चार कमरे और बन जायें, उत्सव पर दस हजार की बजाय १५ हजार चन्दा जमा हो जाये, उसके अधीनस्थ मिडिल स्कूल का हाई स्कूल या हाई स्कूल का कालिज हो जाये, उसमें छात्र छात्रा की संख्या ६०० से बढ़ कर १००० हो जाये। दूसरी ओर 'ख' नामक आर्य समाज के सदस्यों की संख्या २५ रह जाये, मन्दिर में कोई कमरा न बने, चन्दा घटकर पांच हजार रह जाये, उसके अधीनस्थ शिक्षण संस्था टूट जाये अथवा विद्यार्थियों की संख्या ४०० रह जाये किन्तु उसके सदस्यों में संध्या हवन करने और वेद का पढ़ने पढ़ाने और सुनने वालों की संख्या ३ से ५ हो जाये, उसके वकील सदस्य झूठे मुकद्दमे लेना छोड़ दें, शिक्षण संस्था के अध्यापकों में चरित्रवानों की संख्या बढ़ जाये, छात्रों में अनुशासन आ जाये, बीड़ी सिगरेट पीने या सिनेमा जाने वाले छात्रों की संख्या में कमी आ जाये, दो दुकानदार सदस्यों के बारे में लोग यह कहने लगें कि अमुक दुकानों पर हरेक चीज शुद्ध और उचित मूल्य पर मिलती है, एक दो व्यापारी सदस्यों की यह साख जम जाये कि उनके हिसाब किताब में गड़बड़ न होने के कारण इनकम टैक्स अधिकारी उसकी जांच पड़ताल करना जरूरी नहीं समझते। दोनों समाजों की तुलना करने पर मैं 'ख' नामक आर्य समाज को बड़ा और उन्नत मानूंगा। आज स्थिति यह है कि स्थानीय समाजों की तो बात क्या ही, वेद प्रचार की व्यवस्था करने और उस पर लाखों रुपये संग्रह कर व्यय करने वाली उच्च-स्तरीय सभाओं के प्रमुख अधिकारी तक वेदों से उतने ही अनजान मिलेंगे जितने गैर-आर्यसमाजी। 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' का नारा लगाने वालों में आर्यत्व कहां है? अपनी विद्वत्ता, बौद्धिक क्षमता और जीवन की पवित्रता के कारण आर्य समाज के संगठन के बाहर भी आदर मान पाने वाले नेता आज हमारे पास कहाँ हैं?

कृण्वन्तो विश्वमार्यम्—हमारे संगठन के निर्माण की प्रक्रिया नीचे से ऊपर को है, ऊपर से नीचे को नहीं। इसलिये हमारे नारों का क्रम होना चाहिये कृण्वन्तः स्वयमार्यम्, कृण्वन्तः परिवारमार्यम्, कृण्वन्तो नगरमार्यम्, कृण्वन्तः प्रदेशमार्यम्, कृण्वन्तो राष्ट्रमार्यम्, कृण्वन्तो विश्वमार्यम्। आर्य समाजों की संख्या भले ही थोड़ी हो, सदस्यों की संख्या भी थोड़ी हो, किन्तु जितने भी हों खरे हों। खोटे सिक्कों से जेब भरी भी हो तो किस काम की, विधि विधान के अनुसार नीचे से ऊपर तक संगठन का निर्माण हो। वेद का ज्ञान और तदनुकूल आचरण ही हमारी समस्त गति-विधियों का आधार हो।

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

सुख व शान्ति के उपाय

—राजेन्द्र कुमार 'बालसमन्द'

मानव का एकमात्र उद्देश्य जीवन में हर दृष्टि से सुख एवं शान्ति प्राप्त करना है। प्रत्येक इसके लिए अपने-अपने दृष्टिकोण से प्रयत्न करता है। आज का मानव मन से बाहर पदार्थ में शान्ति ढूढ़ता है, जबकि सुख-दुःख एवं शान्ति तथा अशान्ति मन में है, पदार्थ में नहीं। वैसे तो अनेक महापुरुषों ने मानव-मात्र के हित के लिए अपने-अपने दृष्टिकोण से सुख व शान्ति के पद चिह्न, इस भूल-भुलैया रूपी संसार में छोड़े हैं परन्तु उनमें जो सबसे अधिक स्पष्ट एवं जाज्वल्यमान हैं, वे हैं महर्षि दयानन्द के वैदिक धर्म के सिद्धान्त। इस अनाचार एवं भ्रष्टाचार से परिपूर्ण अन्धकार में जिसका प्रत्येक सिद्धान्त रूपी पद-चिह्न मानव का पथ-प्रदर्शन करता है।

आज समाज में चारों ओर जो अशान्ति व्याप्त है उसका मूल कारण नैतिक पतन है। नैतिकता के अंतर्गत सत्य, अहिंसा, मिलावट न करना, चोरी न करना, बेईमानी न करना, पराये धन व स्त्री का हरण न करना, सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझना आदि गुण आते हैं। आज के मानव की अशान्ति का मूल कारण वेद-मार्ग पर न चलना है। नैतिकता के मार्ग पर चलने से समाज में हिंसा नहीं होगी, चोरी नहीं होगी, बेईमानी, मिलावट आदि से वातावरण अशुद्ध न होगा। अशान्ति के कारणों को जानते हुए भी मनुष्य इनका अनुसरण करता है तो इसका एकमात्र कारण यह है कि वह धर्म की शरण में जाता नहीं और किसी के द्वारा उचित पथ-प्रदर्शन मिलता नहीं। ऐसी अवस्था में केवल वेद-मार्ग एक ऐसा मार्ग है जो साम्प्रदायिकता को ताक पर रख कर मानवता के नैतिक व आध्यात्मिक उत्थान का मार्ग प्रशस्त करता है। आर्यजनों ने मानवता के लिए, मनुष्यमात्र के उद्धार के लिए व राष्ट्र की स्वतन्त्रता के लिए जो प्रयत्न किये उन्हें भुलाया नहीं जा सकता।

सच्चा सुख त्याग में है, जिसकी मानव में आज न्यूनता है। त्याग करें, भोजन व वस्त्र का नहीं, परिवार का भी नहीं, प्रत्येक उस बुराई का जो हमारे मन में है, और जो एक पल भी हमें सुख एवं शान्ति का सांस नहीं लेने देती। जिस वस्तु को प्राप्त करने के लिए तुम्हें अपनी आत्मा की आज्ञा का उल्लघन करना पड़ता है उस वस्तु की इच्छा का त्याग कर दो, क्योंकि शान्ति उस वस्तु में नहीं बल्कि तुम्हारे मन में है जिसे तुम्हें ढूंढ़ना है, पहचानना है।

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

संसार में जो अशान्ति का साम्राज्य नजर आ रहा है उससे स्पष्ट है कि आज का मानव वेद का अनुसरण नहीं कर रहा। प्रत्येक जीव में एक समान प्राण हैं। जैसी शारीरिक पीड़ा हमें होती है वैसी ही उन्हें भी होती है। अधिक नहीं तो हम अपने दैनिक जीवन में इतना तो कर ही सकते हैं कि हमारे कारण किसी जीव को व्यर्थ कष्ट न हो। बलवान् निर्बल को, अमीर गरीब को, मालिक अपने सेवक को तथा उच्च अधिकारी अपने अधीन कार्यकर्ता को त्रस्त न करें।

आज विज्ञान की उन्नति मानव-समाज की सुख-शान्ति के लिए नहीं, बल्कि हिंसा के लिए हो रही है। बड़े-बड़े राष्ट्र अकारण अपने राज्य-विस्तार की लालसा से युद्ध का बहाना ढूंढ़ते रहते हैं। आज का युद्ध कितना भयंकर होता है यह प्रत्येक आदमी जानता है। लाखों प्राणी एक पल में समाप्त हो जाते हैं, फसलें तबाह हो जाती हैं और वातावरण दूपित हो जाता है। यह हिंसा किसलिए? इसका जवाब आज के बुद्धिजीवी मानव के पास नहीं है। केवल अपने अहंकार की तृप्ति के लिए मनुष्य कितने जीवों को कष्ट देता है और अपने लिए अशान्ति का मार्ग प्रशस्त करता है!

आज सभी जगह असत्य का बोलबाला है। शायद आज का मानव यह सोचता है कि वह असत्य का सहारा लेकर अधिक आराम व शान्ति से रह सकता है। लेकिन वास्तविकता यह नहीं है। साक्षी बनकर जो सत्य हमारे अंदर बैठा है, वह हमें कचोटता रहता है और कभी शान्ति से बैठने नहीं देता। क्षणिक लाभ की आशा से व्यवसाय में झूठ बोलना प्रवंचना के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

ऋषि दयानन्द के पदचिह्नों पर चलकर प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन का उत्थान कर सकता है। वैदिक धर्म वह छायादार वृक्ष है, जिसकी शीतल छाया में आकर निश्चय ही आज का दुःखित मानव सुख व शान्ति का सांस ले सकता है।

आज प्रत्येक मनुष्य भौतिक सुखों के पीछे भाग रहा है। आज के मानव का देवता पैसा बन गया है। उस देवता को प्रसन्न करने के लिए वह असत्य भाषण करता है, चोरबाजारी करता है, मिलावट करता है, और इसके अलावा गरीब लोगों का शोषण करता है, लेकिन इतना करने पर भी क्या उसका यह भौतिक देवता उसे क्षण भर के लिए भी सुख अथवा शान्ति दे पाता है। क्षणिक लाभ की आशा से की गई मिलावट व जमाखोरी लाखों लोगों को रोग का शिकार व मृत्यु की ओर अग्रसर होने पर विवश कर देती है। ऐसे व्यक्ति जिनके लिए मानवता व ईमानदारी जैसे गुणों की कोई कीमत नहीं होती, अपने आपको धोखा देते हैं, अपने राष्ट्र को धोखा देते हैं और अंत में उस पाप की कमाई को यहीं छोड़कर इस संसार से चले जाते हैं। उनकी संतानें उस अपवित्र कमाई का उपभोग करके उसी भ्रष्ट मार्ग का अवलम्बन करती हैं। इस प्रकार सारे समाज में अव्यवस्था तथा अशान्ति का साम्राज्य व्याप्त हो जाता है। जब कभी इस तरह हमारे मानसिक सागर रूपी दुग्ध में अशान्ति का उबाल आता है तो गायत्री महामंत्र रूपी जल के छींटे मारने से तुरन्त शान्त हो जाता है। गायत्री महामन्त्र स्वयं सुख और शान्ति का सबसे बड़ा साधन है और हर जगह दुःखित मानव का मार्ग-प्रदर्शन कर सकता है।

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

आज सर्वत्र भ्रष्टाचार का बोलबाला है। रिशवत, बख्शीश, चाय-पानी, बच्चों के लिए मिठाई, विटामिन आर. आदि अनेकों नाम व विभिन्न रूपों के साथ हर यह विभाग और हर संस्था में घुसा हुआ है। रिश्वत और शान्ति का वैर है; एक के आने पर दूसरी चली जाती है। कभी अपने आफीसर का भय, कभी बदनामी का भय और सबसे बड़ा भय तो अपने आप से लगने लगता है। हम अधिक आराम के भ्रम में अथवा अधिक लाभ की आशा से यह अपराध करते हैं और अपने मन की शान्ति गँवा बैठते हैं।

आज व्यापारी अधिक लाभ की आशा से अनाज के गोदाम भरकर रख लेते हैं अपने भरे हुए पेट और अधिक भरने के लिये। उधर भूख से लोग पाहि माम्-पाहि माम् कहकर पुकारते हैं उस ईश्वर को जिसने सबको इस पृथ्वी पर जन्म दिया। कुछ तो प्रारब्ध अथवा पूर्व कर्म अपना खेल दिखाते हैं और कुछ मानव की विपरीत बुद्धि उसमें अपना योगदान करती रहती है। राशन की लम्बी कतारें आज की उन्नतिशील सभ्यता का मजाक-सा उड़ाती प्रतीत होती हैं। प्रत्येक व्यक्ति संग्रह प्रवृत्ति का होता जा रहा है। व्यर्थ संचय करके उस वस्तु की कमी पैदा कर देना इन्सानियत के दरबार में अपराध है। एक महापुरुष का वचन सत्य ही है 'जब तक मेरे पास आवश्यकता से अधिक धन, भोजन अथवा वस्त्र हैं, तब तक इस दुनियाँ में सतत चलते हुए मैं पाप का भागीदार हूँ।'

पाश्चात्य सभ्यता की छाप हमारे ऊपर कुछ इस तरह पड़ गई है कि हमारी अपनी वैदिक संस्कृति लुप्तप्राय होती जा रही है। पाश्चात्य सभ्यता ने जो हमारे समाज को दिया उसमें व्यभिचार, नौकरशाही, फैशनपरस्ती, निरर्थक सौन्दर्य प्रसाधन व मातृभाषा का विस्मरण भी शामिल है। रंग-बिरंगे प्रसाधनों की चमक क्षणिक भौतिक सुख का आभास देकर हमारे लिए अशान्ति का मार्ग प्रशस्त कर देती है।

धूम्रपान एव मद्यपान आज एक आम बात हो गयी है। आज इन का प्रयोग करना ऊँची सोसायटी का लक्षण माना जाता है। लेकिन इस झूठी शान के पीछे कितना खोखलापन है। भावी जीवन की नींव किस खण्डहर पर वह रख रहा है, इससे वह अनभिज्ञ है। ताश का यह महल जब भरभरा कर गिर पड़ेगा, तब तक स्वर्ण अवसर हाथ से निकल चुका होगा।

'ईश्वर सर्वव्यापक है' इस सिद्धान्त को मानने वाला कभी कोई बुरा कार्य नहीं कर सकता। प्रत्येक की उन्नति में अपनी उन्नति समझने वाले के पास अशान्ति फटकने भी नहीं पाती।

प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन-ध्येय से प्रेरित होकर उस सर्वशक्तिमान् सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा की शरण में जाने के लिए अपना मार्ग निर्धारित कर सकता है।

आर्यसमाज अंध विश्वास एवं प्राचीन निरर्थक रूढ़ियों के खिलाफ आवाज उठाता है; उन्हें बदलने की प्रेरणा देता है। वैदिक धर्म किसी एक वर्ग विशेष से सम्बन्ध नहीं रखता, यह प्रत्येक मानव का अपना धर्म है। सादा रहन-सहन, सात्त्विक

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

भोजन, शुद्ध विचार, मानवता से प्रेम, यम नियम का पालन करने वाला व नित्य वेद का पाठ हवन आदि के साथ करने वाला कभी अशान्त नहीं रह सकता, और ये सभी बातें वैदिक धर्म के अन्तर्गत आती हैं।

उपरोक्त सभी बातों से यही निष्कर्ष निकलता है कि आज समाज में जो भ्रष्टाचार एवं अन्धविश्वास व्याप्त है उससे प्रत्येक मानव की सुख एवं शान्त नष्ट हो गई है। अशान्ति से परिपूर्ण इस संसार में वैदिक धर्म ही शान्ति स्थापित कर सकने में पूर्णतः समर्थ है। जिस प्रकार एक डाक्टर आपरेशन करते समय गले सड़े अंग को काटकर फैंक देता है, उसी प्रकार आर्यसमाज अपने सिद्धान्तों की कैंची से मानव की हर बुराई को जड़ मूल से उखाड़ फेंकता है। वैदिक धर्म ही एक ऐसा मार्ग है जिसके सिद्धान्त स्पष्ट रूप से अनुकरणीय हैं। वेद-मार्ग सुखमय, शान्तिदायक एवं लक्ष्य तक शीघ्र पहुँचाने वाला वैज्ञानिक मार्ग है।

आइए, आज हम सब मिलकर समाज के सुख और शान्ति के लिए एवं विश्व-बन्धुत्व के लिए वेद के बताये मार्ग पर चलें। हम सब पद का मोह छोड़कर, आपस के झगड़े भूलकर, कन्धे से कन्धा मिलाकर वैदिक धर्म का प्रचार करें। हम ऋषि दयानन्द की बतायी बातें व्यवहार में लायें और अपना जीवन सफल बनायें। जहाँ हम अपना लक्ष्य प्राप्त करें वहाँ अन्य भटकते हुए लोगों को वेद का मार्ग बताकर उनका भी मार्गदर्शन करें। □

विवाह के अवसर पर बाँटने योग तीन महत्त्वपूर्ण पुस्तकें

१—वैदिक गृहस्थाश्रम

पं० विश्वनाथ विद्यामार्तण्ड — सजिल्द ६)

२—धरती का स्वर्ग : गृहस्थाश्रम

पं० शिवकुमार शास्त्री संसदसदस्य — १)५०

३—आदर्श परिवार

श्री युगल किशोर जी भू०पू०मंत्री राजस्थान — ६० पैसे

दयानन्द संस्थान नई दिल्ली-११०००५

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

स्वामी दयानन्द और कर्मवाद

—प्रो० श्रीराम

जिस समय स्वामी दयानन्द ने अपना कार्य आरम्भ किया उस समय भारत में सभी मत-मतान्तर कर्मवाद पर सहमत थे। वेदान्ती, वैष्णव, शैव, शाक्त, जैन और अन्य भारतीय मत-मतान्तरों वाले सभी इस बात पर सहमत हो जाते थे कि मनुष्य अपने किये हुए कर्मों का फल भोगता है।

कुछ नये सुधारक विचारों वाले कर्मवाद को छोड़ बैठे थे। ब्राह्मसमाजी कर्मवाद को स्वीकार न करते थे। पश्चिमी विचारधारा और ईसाइयत की लहर में बहकर उन्होंने इस संसार में मनुष्यों की भिन्नता के प्रश्न से अपनी आंखें मूंद ली थीं। विधर्मियों का अनुकरण कर वे यही कहते थे कि मनुष्य को यही एक जीवन मिला है, इसके पीछे कुछ नहीं। परन्तु आश्चर्य की बात यह थी कि जहाँ वे मनुष्य के इस जीवन से पहले कोई तथ्य न समझते थे वहां विधर्मियों का अनुकरण कर स्वर्ग के एक अनन्त जीवन का और इसी प्रकार नरक के एक जीवन का नियम मानने के लिए तैयार थे। वे यह बतलाने में भी असमर्थ थे कि इस अनन्त स्वर्ग या नरक में रहने वाले सारे 'मनुष्य' एक ही स्थिति में थे अथवा नहीं। यदि ये आत्मायें भिन्न स्थितियों में थीं—जैसा कि कुछ विचारशील ईसाई मानने के लिए कहीं-कहीं उद्यत प्रतीत होते थे तो क्या उन 'आत्माओं' के लिए अपनी स्थिति को बदलना सम्भव था ? यह सम्भावना तो फिर कर्मवाद की ओर ही ले आती थी। उनका ध्येय मनुष्य को एक ऐसे चक्र में डालता था जिसमें पड़कर थोड़े से काल के जीवन के बदले अनन्त सुख या दुःख प्राप्त हो जाए यह समझना कठिन हो जाता था।

स्वामी दयानन्द ने अपने जीवन काल में कई स्थानों पर ब्राह्मसमाज को आर्य समाज के रूप में परिवर्तित करने का यत्न किया। आर्य समाज की स्थापना से पहले भी वे कलकत्ता में ब्राह्मसामाजिकों से बातचीत करते रहे और सम्भवतः उनको अपने सिद्धान्तों पर लाने का यत्न करते रहे। दो बातों पर ये यत्न असफल हुए प्रतीत होते हैं। वेदों को ईश्वरीय ज्ञान मानने के लिये ब्राह्मसमाजी उद्यत न हों यह समझना आसान है। श्री राम मोहन राय, देवेन्द्र नाथ ठाकुर और केशवचन्द्र सेन उनके गुरु थे। वेदों के उपदेश को मानने के स्थान पर इन जीवित गुरुओं के शब्द पर अपने आप को आधारित करना आसान था। परन्तु उनका कर्मवाद को न मानना एक और ही स्थिति खड़ी करता था। इसको समझने के लिए उस समय के कर्मवाद का रूप जानना आवश्यक है।

सारे मत-मतान्तर इस बात पर तो सहमत थे कि मनुष्य को उसके किये हुए कर्मों का फल मिलेगा परन्तु यहाँ साधारणतया एक आपत्ति खड़ी कर दी गई

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

थी। भक्त सन्तों ने कर्म पर बहुत जोर दिया परन्तु जब वह भक्ति की लहर में बहे तो उन्होंने ईश्वर भक्ति को—उस रूप में जिसे वह वर्णन करते थे इतना ऊँचा स्थान दे दिया कि उस द्वारा सब पाप नष्ट होते माने जाते थे। यह सत्य है कि उन द्वारा वर्णित भक्ति प्रत्येक से आराधी न जा सकती थी। परन्तु यह भी सत्य है कि उन्होंने प्रत्येक मनुष्य के लिये केवल भक्ति को अन्य कर्तव्यों से ऊपर उठाया।

भक्ति का एक और मार्ग नाम स्मरण बना। किसी विशिष्ट नाम के स्मरण तथा जाप में भक्ति समाहित कर दी गई। केवल उस स्मरण से ही सब पाप नष्ट होने का सिद्धान्त चला। कहीं ये नाम गुरुओं द्वारा मन्त्र के रूप में उनके अनुयायियों को दिये जाते थे और कहीं धर्म ग्रन्थों में उनके सम्बन्ध में आदेश दिया गया था। इस नामवाद को इतना ऊँचा उठाया गया कि जहाँ एक वेश्या इसलिए मुक्ति हो गई कि वह अपने तोते द्वारा निकाले हुए शब्द नाम को सुनती रही, वहाँ एक और कुकर्मी इसलिए मुक्ति पा गया कि मरते समय उसने अपने पुत्र का नाम लिया जो नारायण नामधारी था।

कर्मवाद एक और स्वरूप में भी हमारे लिये विषकारक बन रहा था। सिद्धान्त यह बन गया था कि मनुष्य का सारा जीवन उसके पिछले जन्म के कर्मों का फल है। जन्म पत्री के द्वारा पिछले जन्म के फलों को ही ढूंढ़ा जा सकता था। यद्यपि ज्योतिषाचार्यों ने सम्भवतः ज्योतिष पर विश्वास रखने वालों की सुगमता के लिये तथा आप धन कमाने के ध्येय से पिछले जन्मों के कर्मों को बदलने का एक सिलसिला भी बांध रखा था। यह भी कर्मवाद पर एक आघात था। यदि पूजा द्वारा श्राद्धादि करवाने आदि से पिछले जन्म के कर्मों का फल बदल सकता है तो यह विश्वास कि इस जन्म के कर्मों का यथोचित फल होगा, ढीला हो जाता है।

भक्ति और नाम के मार्ग के अतिरिक्त एक और नयी सूझ भी निकल पड़ी थी। मुक्ति पाने के बहुत सारे आसान मार्ग खोज लिए गये थे। जो काशी में मरे वह मुक्त हो जाता है, ऐसी धारणा थी। कबीर तो इस सिद्धान्त से इतना डरा कि उसने काशी छोड़ दी। गंगा में नहाने से मुक्ति मिल जाती थी। एकादशी का व्रत रखने से सर्व पाप नष्ट हो जाते थे। आदि ग्रंथ में ६८ तीर्थ वर्णित हैं जिन पर जाकर मुक्ति खरीदी जा सकती थी। धर्म के बाहरी चिह्न यदि मुक्तिदायक नहीं थे तो मनुष्य को मुक्ति पथ पर तो डाल ही देते थे!

आश्चर्य की बात नहीं कि पढ़े लिखे हिन्दुओं को जिन्होंने इस बात पर विचार किया, कर्मवाद को मानने में हिचकिचाहट हुई। पश्चिमी विद्वानों का जो तो बहुधा ईसाई थे इस बात पर विश्वास था ही नहीं। इसलिये उनके लिए इसको छोड़ना और भी सुगम हो गया। जो लोग स्वेच्छाचारी नहीं बने थे वे हिन्दू धर्म से इन भ्रान्ति फैलाने वाले विश्वासों के कारण दूर हटे।

उस समय के कर्मवाद ने हमें केवल कर्महीन ही नहीं बना दिया था हमें समाज के कुछ वर्गों के हित के लिए सोचने के भी अयोग्य बना दिया था। किसी आलसी मनुष्य के लिए अपने आलस्य को ठीक ठहराना बड़ा आसान था। जो उसके प्रारब्ध में है जो उसके माथे पर लिखा हुआ है वह तो उसे मिलेगा ही। फिर परिश्रम करना मूर्खता है। समाज का दरिद्री और अन्य प्रकार से दुःखित अंग भी

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

किसी सहायता के योग्य नहीं समझा जाता था। दरिद्रता और सब दुःख तो कर्मों के फल से ही है उस फल को बदलना मनुष्य के अधिकार से बाहर ही नहीं था अपितु उसे अनधिकार चेष्टा समझा जाता था। स्वामी रामकृष्ण परमहंस जैसे योगी और विवेकानन्द जैसे विद्वान् भी यह कहने से न रुके कि आप किस लिए दुनिया के दुःख और पीड़ा पर विचार कर रहे हैं ? यह ब्रह्माण्ड उस परमात्मा का है, जैसे वह चाहेगा इसे रखेगा।

स्वामी दयानन्द ने कर्मवाद का यथार्थ स्वरूप हमारे सामने रखा। उन्होंने हमें बताया कि जीवन भर में जो हम करते हैं वह सारा पिछले जन्म के कर्मों का फल नहीं हो सकता। मनुष्य कोई ऐसी घड़ी नहीं जिसको सृष्टि के आदि में उसके कर्मों ने चाबी दी हो और उसके द्वारा वह जन्म-जन्मान्तर में फल भोगता फिरे। यह तो ऐसी अयुक्त बात थी कि कहते ही इसका असत्य प्रकाशित हो जाता था। हिन्दू संस्कृति की पुरानी परम्परा के अनुसार उन्होंने यह बतलाया कि यद्यपि हम इस विभाग को जान नहीं पाते परन्तु हमारा जीवन तीन प्रकार के कर्मों से भरा पड़ा रहता है। कुछ कर्म तो वे है जो हम अपने पिछले जन्म या जन्मों के फलस्वरूप कर पाते हैं। जब पादरी स्काट ने एक समय पर स्वामी दयानन्द से कर्म सम्बन्धी विषय पर बातचीत की तो ऋषि दयानन्द ने उनसे पूछा कि आप लंगड़े क्यों पैदा हुए ? स्काट साहब के पास ईसाई धर्म के अनुसार इसका उत्तर इसके सिवाय कोई नहीं था कि परमात्मा ने ऐसा निश्चय किया। क्यों ? यह वह बतला न पाये। ऋषि दयानन्द ने उनको समझाया कि पिछले कर्मों के फलस्वरूप परमात्मा का यह निश्चय ठीक समझा जा सकता है। कुछ और कर्म ऐसे हैं जिन का फल हम इसी जन्म में पा लेते हैं। एक रोगी अपने पथ्य को छोड़ कर कुछ और खा बैठता है तो उसका रोग बढ़ जाना सम्भव है। जो विद्यार्थी ठीक प्रकार से विद्याध्ययन नहीं करता अथवा परीक्षा में ठीक उत्तर नहीं देता उसका फेल हो जाना सम्भवतः उसके इस जन्म में किये हुए कर्मों का ही फल है। ऐसे कई और उदाहरण दिये जा सकते हैं।

मनुष्य जीवन का कुछ भाग ऐसा भी हो सकता है जिसमें कर्तव्य पालन पर या पथभ्रष्ट होने का कोई परिणाम इस जन्म में दिखाई न दे। कर्मवाद बताता है कि सम्भवतः हमारे इन अच्छे या बुरे कर्मों का फल हमें अगले जन्मों में मिलेगा। एक दुष्ट को फलते देख कर या एक धार्मिक सज्जन को दुःख पाते पाकर मनुष्य को दुःख तो होता है परन्तु उसको कर्मवाद द्वारा ही ठीक प्रकार समझा जा सकता है। □

सारे देश को आर्य बनाने

का व्रत लेकर 'आर्य सदस्य' बनाएं

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

ईश्वर कैसे मिले?

—चन्द्र प्रकाश एम०ए०

"अच्छायमेति शवसा घृता चिदीडानो वह्निर्नमसा ।। यजु० ।।

अर्थात् ज्ञान बल, से और भक्ति से स्तुति करता हुआ यज्ञ का निर्वाहक यह अध्वयु अथवा ज्ञान-यज्ञ का सम्पादक योगी भली प्रकार उस प्रकाशमय प्रभु को प्राप्त होता है।

आज प्रत्येक व्यक्ति नैराश्य, कुण्ठा, अशान्ति, असन्तोष एवं उदासी में फँसा दृष्टिगत होता है। वह रात्रिदिव यह कहते नहीं थकता कि वह शान्ति का इच्छुक है। वह ऐश्वर्य, वैभव, आनन्द और सुखी जीवन का अभिलाषी है। परन्तु उसे यह विदित नहीं है कि ईश्वर की उपलब्धि कैसे होती है? उसे तो समाज ने यह सीमित उपाय दिखा दिया है कि 'यदि तुम मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारे और गिरजे में जाकर मूर्ति के समक्ष सच्चे मन से प्रार्थना करोगे तो प्रभु तुम्हें क्षमा कर देंगे, तुम्हारे पापों को पराभूत कर देंगे।'

वेदमाता ईश्वर प्राप्ति के साधन सहज सरल रूप में प्रस्तुत करती है। मनुष्य ज्ञानी बने। ज्ञान से ही वस्तुतः पापों की निवृत्ति सम्भव है। दुःखों की निवृत्ति भी ज्ञान से ही है। ईश्वर भी ज्ञानियों और विपश्चितों की ही सहायता करता है। ईश्वर से मात्र प्रार्थना करने पर दुःख, दैन्य, पाप एवं दरिद्रता दूर नहीं होते। बिना ज्ञान के मुक्ति सम्भव ही नहीं है—

"ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।"

दूसरा साधन वेदमाता बल को जताती है। मनुष्य का सर्वोपरि धर्म स्वास्थ्य और बल है। यह बल ही व्यक्ति को यशस्वी, वीर्यवान्, तेजस्वी, परिपुष्ट एवं ज्ञानवान् बनाता है। बल से ही मेधा कुशाग्र बनती है। यथा:—

"अग्निना रयिमश्नवत्, पोषमेव दिवेदिवे।
यशसं वीरवत्तमम् ।। ऋग्वेद ।।

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

अपि च—

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् ।।

मनुष्य को नित्यप्रति प्रातःकाल उठना और भगवान् भास्कर का दर्शन करना चाहिए। ब्राह्ममुहूर्त में उठने से सुन्दर, हृष्ट-पुष्ट, तेजस्वी व कान्तिमय शरीर व स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है। सूर्यदर्शन से सुदीर्घ जीवन, सौन्दर्य, बुद्धि एवं वैभव की प्राप्ति होती है।

तीसरा साधन, उस दिव्य प्रभु को प्राप्त करने का 'भक्ति' है। साधक अपने हृदय—अन्तःकरण में श्रद्धा, निष्ठा और विश्वास के पत्र पुष्प लेकर उस प्रभु की शरण में जावे। यह श्रद्धा ही वह शक्ति है जिससे साधक अपने प्रभु को प्रसन्न कर सकता है। नित्य प्रति सच्चे अन्तःकरण से ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपसना एवं संध्यावंदन करने से शान्ति, वैभव ऐश्वर्य, सन्तोष और मुक्ति प्राप्त हो सकती है। अन्धश्रद्धा अर्थात् अज्ञाना-वृत होने से मुक्ति नहीं, अपितु जन्म-मरणादि बन्धनों में पड़े रहना पड़ता है।

इस प्रकार पावमानी वेदमाता के बताये अनुसार ईश्वर-प्राप्ति के सच्चे साधनों का अनुष्ठान करने से ईश्वर प्राप्त होगा तथा अखण्ड आनन्दानुभूति होगी। ★

सत्य को जानने के लिए

महर्षि दयानन्द का अमर ग्रन्थ

सत्यार्थ-प्रकाश

पढ़िए : पढ़ाइए

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

卐 卐

श्री हरि नारायण

आपने अंग्रेजी में रामायण लिखकर आर्यसमाज का दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है.

१९७६-७७ में

सत्यार्थ-प्रकाश-शताब्दी उत्साहपूर्वक मनाएं

मुद्रक-प्रकाशक-सम्पादक पं० राकेश रानी द्वारा दयानन्द संस्थान के लिए सैनी प्रिंटर्स में छपा

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi

Digitization by eGangotri Funding by Arya Samaj Foundation, Chennai

जन-ज्ञान (मासिक)
१५६७, हरध्यान सिंह मार्ग
करौल बाग, नई दिल्ली-५
दूरभाष ः ५६६६३६

D-A.V.P. से स्वीकृत
अप्रैल, मई १९७६
वैशाख-ज्येष्ठ २०३०

रजि० नं०
डी०—(सी०) २०१
R.N.No. 107119/65

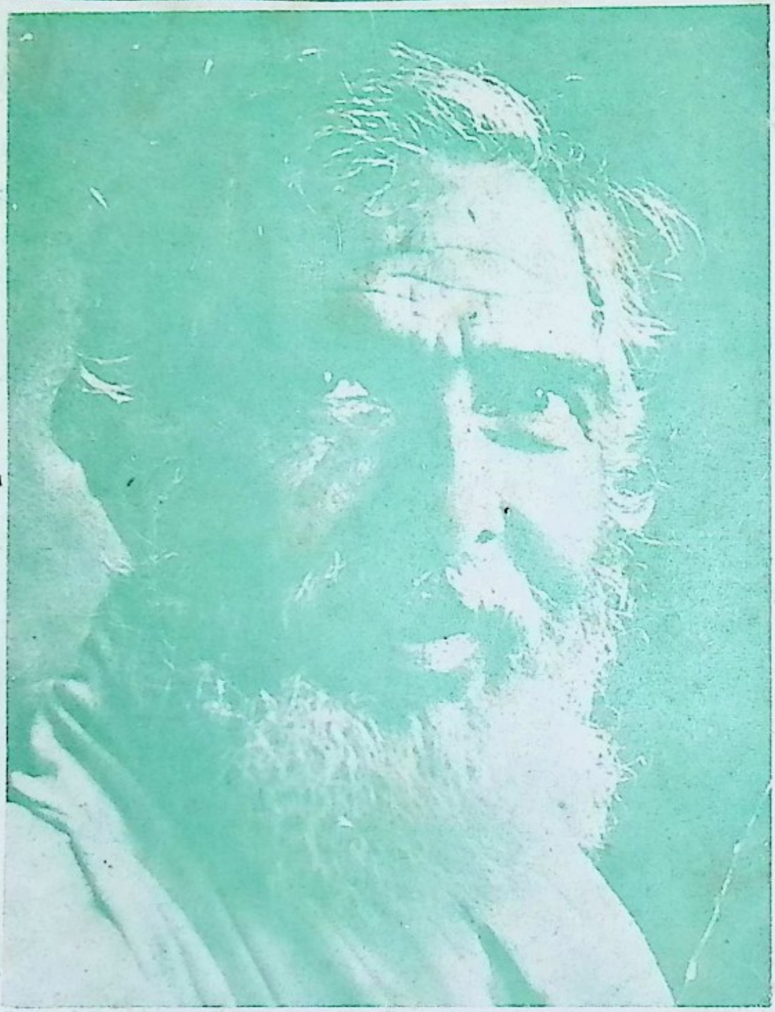

भारत के गौरव पं० धर्मदेव विद्यामार्तण्ड
जो अब संन्यास लेकर
स्वामी धर्मानन्द सरस्वती हो गए हैं

Dr. Vivek Arya Vedic Library, Delhi